आलोचनात्मक निबन्ध

काव्य-समीक्षा

काव्य-समीक्षा

(हिन्दी-काव्य का समीक्षात्मक अध्ययन)

प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए०
देशबन्धु कॉलिज, कालकाजी, नई दिल्ली

तथा

उर्मिला कुमारी गुप्ता, एम० ए०

वितरक

भारती साहित्य मंदिर

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

फव्वारा, दिल्ली—६

उर्मिल प्रकाशन,
३ सी/१४ रोहतक रोड,
करौलबाग, दिल्ली—५
द्वारा प्रकाशित।

मूल्य : चार रुपए
प्रथम आवृत्ति, १९५६

मुद्रक :
क्रॉनिकल प्रेस,
मोरीगेट, दिल्ली।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत कृति में प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त तथा उनकी धर्म-पत्नी सुश्री उर्मिला कुमारी गुप्ता के कुछ आलोचनात्मक निबन्धों का समावेश किया गया है। 'अनुक्रम' के चिन्हित निबन्धों की रचना सुश्री उर्मिला कुमारी ने की है और शेष प्रो० गुप्त द्वारा लिखित हैं। इस रचना के अधिकांश निबन्ध समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न आलोचनात्मक पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं। इसकी रचना स्पष्टतः हिन्दी-साहित्य के अनुरागियों तथा उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए की गई है। यह हमारे प्रकाशन की पाँचवीं पुस्तक है। इससे पूर्व हम आपके समक्ष 'आधुनिक कवियों की काव्य-भावना' 'काव्य के अंग और रचना', 'निबन्ध-निकुंज' और 'छल का फल' नामक कृतियाँ उपस्थित कर चुके हैं। आशा है कि प्रस्तुत प्रकाशन को भी उन्हीं की भाँति अपनाकर आप हमारा उत्साह-वर्द्धन करेंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूचनिका

हिन्दी-कविता का विकास

मन की रागात्मक चेतना का स्पर्श करने के कारण कविता सदैव व्यक्ति को अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित करती रही है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक देश ने साहित्य-सृजन के अवसर पर सर्वप्रथम उसी की ओर रुचि प्रदर्शित करते हुए अनुभूति तथा कल्पना के माध्यम से अपनी भावनाओं को सरस अभिव्यक्ति प्रदान की है। देश और काल के भेद से कविता के स्वीकृत विषय भी अनेकरूप रहे हैं और उनमें पर्याप्त अन्तर का विधान भी हुआ है, किन्तु अपनी रसात्मकता और सहज कोमलता के कारण उसने इस परिवर्तन को सदैव अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया है। हिन्दी-कविता के विकास का अध्ययन करने पर भी हम इस धारणा को सदैव समान रूप से सत्य पाते हैं।

विषय-प्रसार की दृष्टि से हम हिन्दी-कविता को साधारणतः चार युगों में विभक्त कर सकते हैं। इस चतुर्सूत्री विभाजन में प्रत्येक सूत्र की अपनी पृथक् सीमा है और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण उनमें से प्रत्येक का उनके अनुरूप स्वतन्त्र रीति से विकास हुआ है। इन युगों के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं:—

(१) वीरगाथा काल,

(२) भक्ति काल

(३) रीति काल

(४) आधुनिक काल।

हिन्दी-कविता के विकास को हृदयंगम करने के लिए हमें स्पष्टतः

इन विभाजित युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए। अतः आगे हम इन सबका पृथक्-पृथक् परिचय उपस्थित करते हैं।

वीरगाथा काल

काल-क्रम की दृष्टि से वीरगाथा काल की अवधि को सामान्यतः सम्वत् १०५० से १३७५ तक नियत किया गया है। इस समय यवन-आक्रमणके फलस्वरूप भारतवर्ष में सर्वत्र युद्ध का वातावरण उपस्थित रहता था और कविगण अपने आश्रयदाता नरेशों को उत्साह प्रदान करने के लिए वीर रसात्मक कविताओं की रचना किया करते थे। इस युग के काव्य की रचना प्रायः प्रबन्ध काव्य के रूप में हुई है। तथापि मुक्तक काव्य की पद्धति के अन्तर्गत भी कुछ कवियों ने वीर गीतों एवं स्वतन्त्र छन्दों को उपस्थित किया है।

वीरगाथा काल की प्रबन्धात्मक काव्य-रचनाओं में कविवर चन्द-बरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' और जगनिक का 'आल्हा-खण्ड' तथा वीरगीतात्मक कृतियों में कविवर नरपति नाल्ह का 'बीसल देव रासो' उल्लेखनीय रचनायें हैं। इस युग के अन्य कवियों में कवि श्री दलपति विजय, भट्ट केदार और शार्ङ्गधर का भी अच्छा काव्य प्राप्त होता है। कविवर नरपति नाल्ह के अतिरिक्त इन सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में वीर रस को मुख्य स्थान प्रदान करते हुए शौर्य-भाव की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। यद्यपि भाषा तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इन कृतियों का स्थान गौण ही है, तथापि वीर-भावों की दृष्टि से ये अप्रतिम हैं और इनका चिरकालीन महत्व है।

भक्ति काल

वीर गाथा युग के पश्चात् हमारे समक्ष भक्ति युग का शान्त वाता-बरण आता है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम एवं रसखान जैसे हिन्दी

के सर्व प्रसिद्ध कवियों ने इसी युग में काव्य-रचना की ओर अपनी उपासना को कविता के शब्दों में माध्यम से अत्यन्त रसमयी रीति से अभिव्यक्त किया। इस युग के कवियों ने साधना-प्रणाली के भेद से अपनी भावनाओं को चार रूपों में उपस्थित किया है। भक्ति के 'निर्गुण' एवं 'सगुण' नामक दो रूपों को स्वीकार करते हुए उस युग में निर्गुण भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने वाले कवियों ने अपनी भावनाओं को ज्ञान-प्रणाली एवं प्रेम-प्रणाली के आधार पर विभाजित किया औ ,गुण-भक्ति शाखा की ओर प्रवृत्त कवियों ने भगवान् राम और कृष्ण की पृथक् उपासना द्वारा अपने भावों को द्वयोन्मुखी अभिव्यक्ति प्रदान की।

निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी पक्ष का समर्थन करने वाले कवि ब्रह्म को ज्ञान-साधना द्वारा प्राप्त करने की विधि पर बल देते थे। उनके काव्य में सामान्यतः ऐकेश्वरवाद, धार्मिक मत-मतान्तरों की रूढ़ियों का विरोध, अन्धविश्वासों का परिहार, संसार की क्षणिकता और हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम आदि विषयों की चर्चा हुई है। इस धारा के कवि प्रायः अशिक्षित थे और उन्होंने सज्जन-सत्संग एवं हृदय की एकनिष्ठता के आधार पर भक्ति-भावों का प्रतिपादन किया है। उनके काव्य में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष विशेष समृद्ध रहा है। इस धारा के कवियों में महात्मा कबीर का स्थान सर्व प्रमुख है और उनके पदों तथा दोहों का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रन्थ में हुआ है। उनके अतिरिक्त सर्व श्री धर्मदास, दादू दयाल, मलूकदास, गुरु नानक, सुन्दरदास और पीपा आदि कवियों ने भी साधारणतः श्रेष्ठ नीतिपरक तथा भक्तिमय काव्य की रचना की है। इस धारा के काव्य के सामान्य परिचय के लिए महात्मा कबीर के काव्य का अध्ययन पर्याप्त है।

निर्गुण भक्ति में प्रेम-पक्ष का समावेश करने वाले कवियों में जायसी का प्रमुख स्थान है। उनके अतिरिक्त इस धारा को विकासमग्न रखने में कुतबन, मंझन, शेख नबी, नूर मुहम्मद आदि अन्य कवियों ने योग

प्रदान किया। इन्होंने निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन करते समय उसमें ज्ञान-तत्व के समावेश के स्थान पर प्रेम-तत्व को स्थान दिया है। सामान्यतः इन्होंने आत्मा की पति तथा परमात्मा की पत्नी के रूप में कल्पना करते हुए अपने काव्य में एक एक आध्यात्मिक रूपक की स्थापना की है और इस प्रकार प्रचलित हिन्दू जन-कथाओं के माध्यम से अध्यात्म-तत्व का स्पष्टीकरण किया है। इन काव्यों की रचना अवधी भाषा में चौपाई तथा दोहा नामक छन्दों में हुई है। प्रेम-तत्व से समन्वित होने के कारण ये कृतियाँ साधारण जनसमुदाय के लिए अधिक बोधगम्य हो गई हैं। इनमें 'पद्मावत', 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'इन्द्रावती' उल्लेखनीय हैं और इनके अध्ययन से भारतीय दार्शनिक विचार-धारा के अतिरिक्त फारसी के प्रेम-काव्य का साधारण परिचय भी मिल जाता है।

सगुण भक्ति धारा को भी सामान्यतः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। राम-भक्ति-शाखा के कवियों में गोस्वामी तुलसीदास का प्रमुख स्थान है और उनके सहयोगी कवियों ने प्रायः उनका ही अनुकरण किया है। गोस्वामी जी की रचनाओं में 'रामचरित मानस', 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' प्रमुख हैं तथा उन्होंने राम-भक्ति में शील और मर्यादा का समावेश करते हुए उसे अत्यन्त आदर्श रूप प्रदान किया है। उनके काव्य में शान्त रस का भव्य रूप प्राप्त होता है। भावना के अतिरिक्त कला-क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है तथा अवधी और ब्रज-भाषा, दोनों पर अपने समान अधिकार की स्थापना की है।

सगुण मार्ग के कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास का सर्वश्रेष्ठ स्थान है और उनके अतिरिक्त अष्टछाप के नन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, परमानन्द दास आदि अन्य कवियों तथा मीरा एवं रसखान ने भी उत्कृष्ट सरस भक्ति पदों की रचना की है। इन सभी कवियों का काव्य मुख्यतः मुक्तक रूप में लिखित है और इन्होंने ब्रजभाषा को अत्यन्त रम्य रूप में

उपस्थित किया है। इस धारा की कृतियों में सूरदास की 'सूरसागर' तथा नन्ददास की 'रास पंचाध्यायी' एवं 'भँवर-गीत' नामक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इस धारा के कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र के वात्सल्य, शृंगार एवं शान्त नामक रसों से सम्बद्ध पक्षों को अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति युग की कृतियों में सन्त कबीर का 'बीजक', जायसी का 'पद्मावत', सूरदास का 'सूर सागर', गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' और मीरा बाई का पदावली-साहित्य प्रमुख हैं। इन सभी रचनाओं में भक्ति और नीति के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्रायः भाषा तथा भावना में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है।

रीति काल

भक्ति युग के अनन्तर हमारे समक्ष रीति युग का शृंगारिक वातावरण आता है। इस अवधि में कवि-कर्म के साथ-साथ काव्य-निर्णय, काव्य-रचना के नियमों और काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करने का कार्य भी समानान्तर रीति से हुआ है और प्रायः एक ही व्यक्ति ने कवि और आचार्य, दोनों रूपों में उपस्थित होने की चेष्टा की है। इस प्रकार के कवियों में सर्व श्री केशवदास, भूषण, देव, चिन्तामणि, मतिराम एवं भिखारीदास प्रमुख हैं। इन कवि-आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि के आधार पर रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय अथवा ध्वनि-सम्प्रदायों में से किसी एक का अपने काव्य-शास्त्रों तथा कविताओं में समर्थन किया है। प्रायः रस, अलंकार और नायिका भेद ही इस युग के प्रमुख विचारणीय विषय रहे हैं।

इनके अतिरिक्त केवल कवि-कर्म में लीन व्यक्तियों में कविवर बिहारीलाल, वृन्द, घनानन्द और लाल के नाम मुख्य हैं। बिहारी की 'सतसई' रीति काल के शृंगार-काव्य में सर्व श्रेष्ठ रचन है। शृंगार रस

के अतिरिक्त इसमें कतिपय भक्ति और नीति-सम्बन्धी दोहों द्वारा शान्त रस का भी समुचित समावेश हुआ है। वीर रस की दृष्टि से इस युग में महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण', 'शिवा-बावनी', और 'छत्रसाल-दशक' लाल ने 'छत्र-प्रकाश' और सूदन ने 'सूदन-रत्नावली' नामक ग्रन्थ उपस्थित किये। इसके अतिरिक्त इस युग की प्रमुख काव्य-शास्त्रों तथा काव्य-ग्रन्थों में महाकवि केशवदास के 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'; देव के 'सुजान-बोध' और 'भवानी-विलास'; घनानन्द के 'घनानन्द-ग्रन्थावली'; वृन्द के 'वृन्द-सतसई' और भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक काल

रीति युग के उपरान्त हमारा प्रवेश सीधे आधुनिक काल में होता है। काल-क्रम की दृष्टि से इस युग का प्रारम्भ सम्वत् १९०० से होता है और इस प्रकार विशेष बृहत् न होने पर भी भावों की विभिन्नता और व्यापकता की दृष्टि से इस युग का अपना पृथक् महत्व है। इस अवधि की काव्य-रचनाओं को हम मूलतः भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग, और प्रसादोत्तर युग में विभाजित कर सकते हैं। इस श्रेणी-विभाजन के अनुसार विचार करते समय सर्व प्रथम हमारे समक्ष भारतेन्दु-युग आता है। काव्य-धारा की दृष्टि से विशेष नूतन तथ्य प्रदान न करने पर भी इस युग का यही महत्व है कि इसमें शृंगार रस की तीव्रता का विरोध करते हुए उसका भक्ति के साथ सह-भाव स्थापित कर दिया गया और राष्ट्र-प्रेम की कविताओं की रचना की आवश्यकता के संकेत उपस्थित किये गये। इस युग के कवियों में सर्व श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रताप नारायण मिश्र और सत्यनारायण कविरत्न प्रमुख हैं। इन सभी कवियों ने प्रायः कृष्ण-भक्ति, शृंगार रस, राष्ट्र-प्रेम और हास्य रस को लेकर काव्य-रचना की है।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य-धारा को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ

और कविगण ब्रज भाषा के क्षेत्र से विमुख होकर खड़ी बोली में काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त होने लगे। भावनाओं की दृष्टि से भी इस युग में प्राचीन विचार-धारा रूढ़िवादिता का परित्याग कर नवीन विचारों के प्रति उत्साह प्रदर्शित किया गया। इस युग में स्फुट कविताओं के अतिरिक्त अनेक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यों तथा खण्ड-काव्यों की भी रचना की गई। इन कृतियों में 'साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-वनवास', 'पथिक', 'मिलन', 'कादम्बिनी' और 'भारत-भारती' मुख्य हैं। इस युग के कवियों में श्री महाबीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकन्द गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और गोपालशरण सिंह उल्लेखनीय हैं और इनमें से कुछ कवि आज भी अनवरत काव्य-साधना में लीन हैं।

प्रसाद-युग में हिन्दी-कविता के क्षेत्र में 'छायावाद' के शीर्षक से एक नवीन काव्य-धारा का प्रवर्तन हुआ। इसके अन्तर्गत प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया और कविगण कल्पना के आधार पर अव्यक्त को भी व्यक्त रूप प्रदान करने के लिए सचेष्ट रहने लगे। इन कवियों में श्री जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपनी काव्य-रचनाओं में इतर विषयों का समावेश करने के अतिरिक्त छायावाद को प्रमुखतम अभिव्यक्ति प्रदान की। 'प्रसाद' जी का 'कामायनी' नामक महाकाव्य भी इसी युग में प्रणीत हुआ और पन्त जी ने अपने 'पल्लव' तथा 'निराला' जी ने अपने 'परिमल' की रचना भी इसी समय की। इसी युग के आस-पास सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी 'यामा' नामक काव्य-रचना द्वारा तथा डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी विभिन्न कविताओं के माध्यम से छायावाद के साथ-साथ रहस्यवाद की भी सरस व्याख्या उपस्थित की।

प्रसादोत्तर युग के अधिकांश कवि प्रसाद-युग से ही सम्बन्धित हैं

अर्थात् उनका काव्य-रचना-काल उसी युग में प्रारम्भ हो गया था, तथापि इस युग में सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा और सोहनलाल द्विवेदी आदि अनेक नवीन कवियों ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। काव्य-धारा की दृष्टि से इस अवधि में श्रीयुत हरिवंशराय 'बच्चन' ने हालावाद और कविवर सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने प्रयोगवाद का प्रवर्तन किया। इन दोनों नवीन काव्य-धाराओं का कुछ आलोचकों द्वारा समर्थन किया गया है और कुछ ने इनके प्रति विरोध प्रदर्शित किया है। इन दोनों के मध्यवर्ती काल में पर्याप्त समय तक साम्यवाद के सिद्धान्तों पर आधारित प्रगतिवाद को भी प्रमुख स्थान प्राप्त रहा, किन्तु वर्तमान समय में वह मरणोन्मुख हो गया है अर्थात् उसकी ओर अब कवियों का अधिक ध्यान नहीं रहा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दी-कविता के भाव-क्षेत्र में राष्ट्रीयता, सामाजिकता और प्रकृति-प्रेम का अधिक व्यापक आधार पर समावेश किया गया है और कला-क्षेत्र में छन्दोबद्ध कविताओं के अतिरिक्त काव्य में प्रबन्धात्मकता, गीति-तत्व, मुक्त-छन्द-प्रणाली और अतुकान्त रचना का समावेश किया गया। नवीन कवियों द्वारा प्रतिपादित नवीन काव्य-विषयों में सबसे अधिक उल्लेखनीय विषय कविताओं में ग्राम-गीतों की भावनाओं का समावेश करना है। भारतीय ग्राम-गीतों में विविध पारिवारिक आदर्शों तथा मानवीय स्नेह का जो सहज समावेश उपलब्ध होता है, उससे समन्वित होने पर हिन्दी-कविता निश्चय ही विशेष गौरव को प्राप्त कर सकेगी। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के काव्य के हिन्दी-अनुवाद और उससे प्रेरित काव्य-सृजन की भी आज अत्यन्त आवश्यकता है।

१. 'पृथ्वीराजरासो' का 'पद्मावती समय'

(१)

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी-साहित्य के वीर-गाथा युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विशालकाय वीर-काव्य है। इसके रचयिता कविवर चंदबरदाई ने चौहान वंश के महाराज पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके बीसवें प्रकरण 'पद्मावती समय' का एक विशिष्ट महत्व है। इसमें कवि ने राजकुमारी पद्मावती के जन्म से लेकर उसके विवाह तक की घटनाओं का अत्यन्त कौशलपूर्वक वर्णन किया है। इस व्याख्यान को प्रस्तुत करते समय कवि की दृष्टि वीररस के साथ-साथ श्रृंगार रस की ओर भी रही है। कवि को इन दोनों रसों के अनुकूल प्रायः सभी परिस्थितियों का अंकन करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यदि हम प्रस्तुत अध्याय का समग्र रूप से मूल्यांकन करें तो उसका साहित्यिक महत्व हमारे समक्ष अत्यन्त प्रखर रूप में ही उपस्थित होता है।

'पद्मावती समय' में काव्य की चेतना पूर्ण रूप से व्याप्त है। पद्मावती के वयः संधि कालीन रूप का चित्रण करते समय कवि ने भावना और कल्पना के मिश्रण द्वारा श्रृंगार रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विधान किया है। यद्यपि इस दिशा में कवि ने वर्णन की परम्परागत रीतियों को ही ग्रहण किया है, तथापि अपने मौलिक दृष्टिकोण को उन्होंने सर्वत्र स्पष्टतया व्यक्त किया है। रस-निर्वाह में कहीं भी व्याघात उपस्थित नहीं हो पाया है।

'पद्मावती समय' के मूल में वीर रस का ही स्फुरण हुआ है। युग की परिस्थितियों का अनुगमन करने के कारण कवि को यही अभीष्ट भी था और यही कारण है कि शृंगार रस को उन्होंने केवल एक सहायक रस के रूप में स्वीकृत किया है। शृंगार के चित्र उपस्थित करते समय कोमल और रम्य भावों पर ही दृष्टि को केन्द्रित किया गया है, तथापि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जहाँ रस का संयोजन करने के लिए भावों की अवतारणा करनी पड़ी है।

यथा:—

मनहुँ कला ससिभान,
कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बैस ससि ता समीप,
अम्रित रस पिन्निय ॥
बिगस कमल-स्रिग भ्रमर,
नैन खंजन मृग लुट्टिय ।
हीर, कीर, अरु बिंब,
मोति नषसिष अहि घुट्टिय ॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति,
बिह बनाय संचै सचिय ।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय,
मनहुँ काम कामिनि रचिय ॥

इसके अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि ने शृंगार की-अवतारणा करते समय उसके सभी अंगभूत तत्वों का अत्यन्त सुन्दर रीति से निर्वहण और विश्लेषण किया है। चन्द्रमा की सम्पूर्ण श्री को पद्मावती की रूप-छवि के माध्यम से विकसित मानने की कल्पना वास्तव में अत्यन्त रमणीय है। इससे प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि निरन्तर विषय पर

केन्द्रित रही है और उन्होंने अपनी मानसिक भावनाओं की पूर्ण व्याख्या उपस्थित करने का प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त 'पद्मावती समय' में कुछ ऐसे वर्णन भी प्राप्त होते हैं, जिनमें रसात्मकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता को ही प्रधानता दी गई है। जैसे उदाहरण के रूप में पद्मावती की शारीरिक छवि से सम्बन्धित निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखिये :—

कुट्टिल केस सुदेस, पौह्प रचियत पिक्कसद।
कमल गंध वयसंध, हंस गति चलत मंद मद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नव स्वातिबुंद जस।
भमर भवहिं भुल्लहिं सुभाव, मकरन्द बास रस॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द ने 'पद्मावती समय' में शृंगार रस को उसके अनुकूल उचित स्थान प्रदान किया है। रसात्मक बोध की दृष्टि से तत्सम्बन्धी छन्दों का अपना अन्यतम महत्व है और उनमें कवि की चेतना का पूर्ण तथा वास्तविक प्रकर्ष प्राप्त होता है। यद्यपि कहीं-कहीं शुष्क वृत्ति का संचरण भी उन में हुआ है, तथापि हिन्दी के उस आदिम युग मे वह प्रवृत्ति सर्वथा क्षम्य है।

चन्द की शृंगार-विषयक कविता का अनुशीलन करने पर हम देखते हैं कि उसकी रचना करते समय कवि की अन्तर्वृत्तियाँ पूर्णतः अनु-रंजित और उल्लास-मग्न रही हैं। पद्मावती के सौन्दर्य का प्रतिफलन उपस्थित करते समय उन्हें पर्याप्त सफलता की उपलब्धि हुई है। इस प्रकार के चित्रों में नायिका की हृदयगत भावनाओं के विकास का अंकन करने का भी कवि ने प्रयत्न किया है। केवल स्थूल सौन्दर्य का चित्र अपने में अति भौतिक होने के कारण अग्राह्य हो सकता है, किन्तु शृंगार के मधुर भाव से समन्वित होने के कारण चंद के काव्य में वह परिस्थिति-विशेष की सीमा से आगे बढ़कर अपने पूर्ण निखार को प्राप्त हो चुका है। यद्यपि

इस प्रकार के वर्णनों में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति की स्थिति अवश्य है, तथापि प्रकृति-चित्रण की व्यंजना भी वहाँ निश्चित रूप से हुई है ।

संयोग की भाँति शृंगार के विप्रलम्भ-पक्ष की भी कवि ने उपेक्षा नहा की है । वियोग की परिस्थिति में नायिका की मनोदशा के क्रमिक विकास को उन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक चित्रित किया है । यद्यपि प्रेम के इस पक्ष को उतने विस्तार के साथ ग्रहण करने का अवसर इस संक्षिप्त-से आख्यान में नहीं था, तथापि उसके सांकेतिक रूप को उपस्थित करने में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है । इस विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि चंद ने पद्मावती की विरह-दशा की जो कौशल-पूर्ण सूक्ष्म व्यंजना यहाँ उपस्थित की है, वह इस सम्पूर्ण प्रकरण के किसी भी रस-विशेष के एकत्रित सौन्दर्य के समकक्ष है और काव्य के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं : यथा :—

सन्देश सुनत आनन्द नैन ।
उमगीय बाल मनमथ्थ सैन ।।
तन चिकट चीर डार्‌यो उतार ।
मंडान मयंक नव सत सिंगार ।।
भूषन मंगाय नषसिष अनूप ।
सजि सेन मनो मनमथ्थ भूप ।।

इस स्थल पर हमारे नयनों के सम्मुख बरबस ही जायसी के 'पद्मावत' नामक काव्य का वह चित्र उपस्थित हो जाता है जब उसकी नायिका भी प्रिय-आगमन का सन्देश सुनने पर इसी प्रकार के हर्ष का अनुभव करती है । जायसी ने उसकी तत्कालीन शारीरिक अवस्था का इस प्रकार चित्रण किया है:—

हुलसे नैन दरस मदमाते ।
हुलसे अधर रंग रस राते ।।

हुलसा बदन ओप रवि पाई ।
हुलसि हिया कंचुकि न समाई ॥
हुलसे कुच कसनी बन्द टूटे ।
हुलसी भुजा, बलय कर फूटे ॥

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'पृथ्वीराज रासो' के 'पद्मावती समय' और जायसी के 'पद्मावत' में अद्भुत कथा-साम्य है । इन दोनों ही काव्यों में नायक-नायिका के प्रेम का उद्भावन गुण-श्रवण के द्वारा होता है और दोनों ही स्थानों पर मध्यस्थ के रूप में शुक कार्य करता है । नायक-नायिका के परस्पर मिलन की परिस्थितियाँ भी उभय स्थलों पर प्रायः समान हैं और अपने राज्यों को लौटते समय दोनों ही नायकों को विघ्न तथा व्यापक अवरोध का सामना करना पड़ा है । यहाँ एक दृष्टि से जायसी चन्दबरदाई की अपेक्षा अधिक सतर्क और सफल रहे हैं । इन विघ्नों के अवसर पर 'पद्मावत' के नायक रत्नसेन को निरन्तर अपनी प्रेयसी का स्मरण रहा है, किन्तु 'पद्मावती समय' में महाराज पृथ्वीराज विपक्षियों से युद्ध करते समय पद्मावती का सर्वथा विस्मरण कर बैठते हैं । काव्य और व्यवहार, दोनों ही की दृष्टि से यह असंगत है और निश्चय ही एक गम्भीर दोष है । इस प्रकार हमने देखा कि केवल नागमती के प्रकरण को छोड़कर जायसी ने अपने काव्यों में विशेष मौलिक कथा का परिचय नहीं दिया । संक्षेप के कारण 'पद्मावती समय' में उसके समान किसी दूसरी पत्नी के समावेश के लिए अवकाश ही न था, अन्यथा इन दोनों में पूर्ण रूप से एक ही भाव का प्रायः समान विकास दृष्टिगत होता । समीक्षा की शुद्ध रीति से विवेचन करने पर इस विषय में हमारा निष्कर्ष यही निकलता है कि जायसी को अपने काव्य-सृजन की प्रेरणा 'पद्मावती समय' से ही प्राप्त हुई थी ।

'पद्मावती समय' के पूर्वार्द्ध में कवि ने शृंगार रस का आधार ग्रहण किया है और उसके उत्तर-भाग में वीर रस को उसका वांछित स्थान तथा

गौरव प्रदान किया है। शृंगार का समावेश वीर रस के सहायक तत्व के रूप में हुआ है और यही कारण है कि प्रस्तुत 'समय' में अवसर प्राप्त होते ही कवि की चेतना वीर रस के चित्रण की ओर अभिमुख हो गयी है। इसी कारण पद्मावती का अपहरण करने के पश्चात् पृथ्वीराज का सर्वप्रथम उसके निश्चित वर कुमोदमनि के साथ युद्ध होता है। उसमें विजय प्राप्त कर ज्यों ही वह आगे की ओर बढ़ता है, त्यों ही शाहबुद्दीन गौरी से भी उसका विकट युद्ध होता है। अपने असाधारण शौर्य के बल पर पृथ्वीराज इसमें भी जय-लाभ कर अपने विपक्षी को पराभूत कर देता है। इस प्रकार कवि ने इन दोनों ही युद्धों का अत्यन्त व्यापक और ओजस्वी वर्णन किया है। सारांश यह है कि कवि का ध्यान वीर-भाव पर ही केन्द्रित रहा है और प्रस्तुत अध्याय का परिशीलन करते समय हमें यह प्रमुख रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

चन्द ने सदैव शोभन का आदर किया है और इसी प्रवृत्ति के कारण विपक्षी के शौर्य का स्तवन भी वह कर सके हैं। शाहबुद्दीन के सैन्य-विभव का निम्नांकित चित्रण इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है:—

सुनि गज्जनै आवाज, चढ़यो साहबदीन बर।
षुरांसन मुलतान कास, काबुलिय मीर धर॥
जंग जुरन जालिम जुझार, भुज सार भार भुअ।
धर धमंकि भजि सेस, गगन रवि लुप्पि रैन हुअ॥
उलटि प्रवाह मनों सिंधुसर,
रुक्कि राह अड्डौ रहिय।
तिहि घरिय राज प्रथिराज सौं,
चंद वचन इहि बिधि कहिय॥

चंद ने स्वयं युद्ध देखे थे और किये थे। यही कारण है कि युद्ध-भूमि के वातावरण को उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया है और उसके मूल में हमें किसी प्रकार की कृत्रिमता के दर्शन नहीं होते।

'पद्मावती समय' में चंद ने मनोविज्ञान के रम्य स्वरूप का भी दृढ़ आधार ग्रहण किया है। अध्येता की मनोभूमि को स्वस्थ रखने के लिए यह सर्वाधिक अपेक्षित था कि पृथ्वीराज की जीवन-शक्ति और क्षमता का अधिकाधिक उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाये। कवि ने इस आवश्यकता का सर्वत्र ध्यान रखा है और नायक के धीरोदात्त आदि गुणों को अक्षुण्ण रखते हुए उसके गौरव का क्रमशः विकास किया है। यही कारण है कि कुमोदमनि की अपेक्षा उसे प्रारम्भ से ही पद्मावती के लिए अधिक योग्य वर के रूप में उपस्थित किया गया है। कवि ने पृथ्वीराज और कुमोदमनि के युद्ध का वर्णन करते हुए एक नाटकीय गति का आश्रय ग्रहण किया है। और व्यंग्य के माध्यम से एक नवीन चमत्कार की सृष्टि की है। इस स्थल पर चंद की काव्य-सृजन-विषयक क्षमता का और भी मधुरिम उद्घाटन हुआ। कवि ने अत्यन्त सहज रूप से कुमोदमनि की सम्पूर्ण सैन्य शक्ति का पृथ्वीराज से सम्बन्ध-स्थापन कर दिया है। वह कहते हैं :—

भइ खबरि नगर बाहिर सुनाय।
पद्मावतीय हरि लीय जाय॥
बाजि सुबंब, हय गय पलान।
दौरे सुसज्जित दिस्सह दिसाँन॥
तुम लेहु लेहु मुख जंपि जोध।
हन्नाह सूर सब पहरि क्रोध॥
अग्गे जु राज प्रथिराज भूप।
पच्छे सु भयो सब सेन रूप॥

'पद्मावती समय' में व्याप्त वीर-भाव का अध्ययन करने पर एक बात हमारे सम्मुख सबसे अधिक स्पष्ट होती है कि कवि ने कुमोदमनि की अपेक्षा साहबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के युद्ध का अधिक सशक्त वर्णन किया है। यहाँ तक कि प्रथम युद्ध के सभी अंशों का कवि ने द्वितीय युद्ध के अवसर पर पुनराख्यान किया है। उदाहरण के रूप में कुमोदमनि के साथ हुए युद्ध की

यह प्रभावशाली चित्राकृति देखिए:--

उलटी जु राज प्रथिराज बाग ।
थकि सूर गगन, धर धसत नाग ।।

अब शाहबुद्दीन के साथ हुए युद्ध में इन्हीं पंक्तियों को विस्तृत रूप में देखिये :—

उट्ठि राज प्रथिराज बाग मनौं लग्ग वीर नट ।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनौं बीजु झट्ट घट ।।
थकि रहे सूर कौतिक गगन, रगन मगन भइ श्रोन धर ।
हरि हरषि बीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नवरत्त बर ।।

वीर रस के उपयुक्त स्फुरण के लिए काव्य में उत्साह स्थायी-भाव के सम्यक् विकास की सर्वाधिक आवश्यकता होती है । चंदबरदाई ने काव्य के इस सत्य को सदैव दृष्टि में रखा है और अपने काव्य में ओज-गुण का अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण उपस्थित किया है । यथा:—

गिरद्दं उड़ी भाँन अँधार रैनं,
गई सूधि सुज्झे नहिं मज्झि नैनं ।
सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राजं,
पकरि कै साह जिमि कुलिग बाजं ।।
लै चल्यो सिताबी करि फारि फौजं,
परे वीर सै पंच तहँ खेत चोजं ।।

'पद्मावती समय' में इस प्रकार के स्फूर्तिपद भाव अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं ।

'पद्मावती समय' के वीर-रस-विषयक छन्दों में उत्साह-वृत्ति को पूर्ण पोषण एवं संरक्षण प्राप्त हुआ है । पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन को पराजित कर बन्दी के रूप में अपने राज्य में ले जाना न केवल इतिहास की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण प्रसंग है, अपितु वातावरण की दृष्टि से भी उसमें एक विशेष भव्यता है । कवि को इस स्थल पर क्षात्र-धर्म के तेज का उचित निर्वाह

करने में यथा-सम्भव सफलता की उपलब्धि हुई है। पृथ्वीराज की विजय के अनन्तर सामान्यतः जिन परिस्थितियों का उद्भव होता है, उन सभी का उन्होंने अत्यन्त गरिमापूर्ण अंकन किया है। इस फल-प्राप्ति के लिए योद्धाओं में साधारण रूप से जिस स्फूर्ति की अपेक्षा होती है, उसका उद्भावन करने के लिए राजपूत सेना की ओर से दुन्दुभिवादन होता है। इसके फलस्वरूप पृथ्वीराज के सैनिक शाहबुद्दीन की सुसज्जित एवं व्यूह-बद्ध सेना को युद्ध के उद्देश्य से उत्साहपूर्वक चतुर्दिशाओं से आवृत्त कर लेते हैं। युद्ध-स्थल के इस दृश्य को प्रत्यक्षीकरण द्वारा उपस्थित करना कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है :—

तिनं घेरियं राज प्रथिराज राजं ।
चहौं ओर घनघोर नीसांन बाजं ॥
बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहौं दिसि ।
सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिस ॥

'पद्मावती समय' में पृथ्वीराज के शौर्य के उपर्युक्त सभी उपकरण विद्यमान हैं। नायक के अनुकूल ही उसके व्यक्तित्व का निरन्तर विकास होता गया है। अध्याय के अन्त में जब पृथ्वीराज पराभूत शाहबुद्दीन को बंधन से मुक्त कर देता है, तब उसके अंतर की असीम सहृदयता की व्यंजना ही उपलब्ध होती है। इससे नायक के चरित्र को पर्याप्त उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। वास्तव में इस प्रकरण में इस प्रकार के अनेक प्रकरणों का अत्यन्त सहज रूप से समावेश हुआ है और यही कारण है कि यह पद-पद पर हमें नूतन उन्मेष और उल्लास प्रदान करता है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वीर-काव्य की मर्यादाओं के अनुकूल 'पद्मावती समय' में सर्वत्र वीर रस को ही ग्रहण करने का प्रयास किया गया है तथापि केवल उसी का एकाधिकार कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। इसके विपरीत हम देखते हैं कि शृंगार रस के चित्र उपस्थित करते समय कवि की प्रतिभा हमारे समक्ष कुछ अधिक प्रकृत स्तर पर

अवस्थित रही है। इन वर्णनों में उन्होंने आवश्यक विषय-विस्तार से बचने का यथाशक्य प्रयत्न किया है, किन्तु वीर रस से सम्बन्धित छन्दों में अनेक स्थलों पर ऐसे भावों का भी समावेश हुआ है, जो प्रसंग की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखने के लिए सर्वथा अनपेक्षित थे और जिनका सहज ही निराकरण किया जा सकता था। वास्तव में वीर रस का अंकन करते समय कवि ने वर्णनात्मकता के तत्व को कहीं अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया है। उदाहरण के रूप में वस्तु-परिगणन-मात्र से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये:—

षुरासान, सुल्तान षंधार मीरं।
बलष स्यो बरं, तेग अच्चूक तीरं॥
रुहंगी, फिरंगी, हलब्बी समानी।
ठटी ठट्ट बल्लोच, ढालं निसानी॥
मजारी-चषी, मुष्ष जंबूक लारी।
हजारी हजारी हुकै जोध भारी॥

'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन करने पर हमें वीर-रस के उत्साहमय स्फुरण के साथ ही शृंगार-रस के सौंदर्य-चित्रों का मनोरम वातावरण भी उपलब्ध होता है। वास्तव में चंद के वीर-रस-सम्बन्धी छन्दों में ओज-गुण जिस स्पृहणीय मात्रा में सन्निहित हुआ है, ठीक उसी परिमाण में माधुर्य गुण भी उनके शृंगार-वर्णन में समाविष्ट है। महाकाव्य के उपयुक्त ही, उन्होंने इस ग्रन्थ में वीर रस को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए प्रसंग के अनुसार अन्य रसों को भी यथास्थान स्वीकार किया है। 'पद्मावती समय' इस दृष्टिकोण से कोई अपवाद नहीं है। और उसके विषय में भी ये सब तथ्य उतने ही सत्य हैं, जितने 'रासो' के किसी अन्य अध्याय के विषय में। उदाहरण के लिए वीभत्स रस के द्वारा वीर रस की चेतना को और अधिक व्यापक बनाने की ओर प्रेरित कवि का यह प्रयत्न देखिये :—

कहौं कमध कहौं मत्थ कहौं कर चरन अंतरुरि।
कहौं कंध बह तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर ॥
कहौं दंत मंत हय षुर षुपरि कुंभ भ्रसुण्डह रुण्ड सब।
हिंदवान रांन भय भान मुख गहिय तेग चहुवाँन जब ॥

रस-सम्बन्धी इस विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम सहज ही यह कह सकते हैं कि 'पद्मावती समय' का प्रमुख रस वीर है। यद्यपि प्रकरण के शीर्षक से यही बोध होता है कि इसमें शृंगार रस का प्राधान्य है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। शृंगार की सम्पूर्ण विधा का समावेश वीर रस को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ही हुआ है और कवि को प्रमुख रूप से यही अभीष्ट भी रहा है।

(२)

महाकवि चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' में डिंगल भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा यहाँ राजस्थानी के शुद्ध रूप की अर्थवाची है। 'पद्मावती समय' में हमें इसका अत्यन्त संतोषप्रद व्यवहार उपलब्ध होता है। इसमें कवि ने राजस्थानी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से भी पर्याप्त शब्दों को ग्रहण किया है। यह शब्द-प्रयोग उनकी भाषा में इतनी स्वाभाविक और उचित मात्रा में हुआ है कि शैली के प्रवाह और प्रकृति को बिना कुछ आघात पहुँचाये वह उसमें अत्यन्त सहज रूप से समाविष्ट हो गया है। इस प्रकार के शब्दों में संस्कृत के 'मयंक', 'भ्रमर' तथा 'ब्रह्म'; अपभ्रंश के 'सायर (सागर)', 'यंद (इन्दु)' तथा मुद्ध (मुग्ध)'; तुर्की के 'मुहर'; अरबी के 'सुकरात' एवं फारसी के 'हसम' तथा 'सिताबी' शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कवि ने राजस्थानी के अनेक प्रादेशिक शब्दों का भी अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दों में 'विंद (पति)', 'धूत (वीर)' तथा 'तेजी (अश्व)' का प्रयोग दर्शनीय है। शाब्दिक अंग-भंग की प्रवृत्ति भी हमें इसमें प्रमुख रूप से प्राप्त होती है। इस दिशा में हमारा ध्यान 'है (हय)', 'सद्द (शब्द)', तथा 'बाव (वायु)'

आदि शब्दों की ओर प्रमुख रूप से आकृष्ट होता है। वर्तमान युग में प्रतीक-वत् शब्द-प्रयोग की जो रीति प्रमुख रूप से दृष्टिगत होती है, उसके संकेत भी हमें 'पद्मावती समय' में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में यौवन के अर्थ में 'बसन्त' शब्द का प्रयोग प्रमुख है:—

बैस बिती सिसुता सकल, आगम कियौ बसंत।
मात पिता चिंता भई, सोधि जुगति कौ कंत॥

डिंगल की प्रवृत्ति के अनुकूल कवि ने अनुस्वार-बहुल शब्दों का भी विशेष रूप से प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दों से उनकी शैली में माधुर्य गुण का अत्यन्त रम्य संयोजन हुआ है। प्रसाद गुण से संयुक्त होने पर इस प्रकार के स्थल और भी अधिक मनोहारी हो गये हैं। यथा:—

बिहंसि तबरं लगन लिन्नौ नरिदं।
बजी द्वार द्वारं सु आनन्द दुंदं॥

'पद्मावती समय' में कवि ने अभिव्यंजना के विभिन्न रूपों में से विवरणात्मक और सम्बोधन शैलियों को ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया है। सम्बोधन-पद्धति का प्रतिपादन करते समय उन्होंने विषय की परिधि अथवा बाह्य आकार का मोह त्याग कर उसके मूलवर्ती केन्द्र का ही स्पर्श किया है। इस प्रकार के स्थलों पर उनकी वर्णन-शैली विशेषतः दृष्टव्य हो गई है। पद्मावती शुक से कहती है:—

आनो तुम्ह, चहुँवान बर, अस कहि इहै संदेस।
सांस सरीरहि जो रहै, प्रिय प्रथिराज नरेस॥

शैली की इस सजीवता को स्थिर रखने के लिए कवि ने एक विशेष प्रकार की गति का विधान किया है। इस कोटि के सशक्त वर्णनों द्वारा भाषा पर उनके सर्वव्यापी अधिकार का सहज ही बोध हो जाता है। ऐसे स्थलों पर शब्दों का चयन करते समय वह पूर्ण सावधान रहे हैं। और उनकी चेष्टा प्रत्येक रीति से यही रही है कि उनके शब्द अपने मूल में

व्याप्त अर्थ-गाम्भीर्य की स्वतः ही सहज व्यंजना उपस्थित कर दें। यद्यपि आलोच्य प्रकरण में इस प्रकार के छन्द अधिक नहीं हैं। तथापि जितने हैं, उनकी शक्ति अपने में पूर्ण है। यथा:—

सुनत श्रवन प्रथिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तन मन चित चहुँवान पर, बस्यो सुरत्तह रंग॥

'पद्मावती समय' में अलंकारों का अत्यन्त सहज रूप से प्रयोग हुआ है। कवि को उनके आयोजन में किसी प्रकार का विशेष आयास नहीं करना पड़ा है और यही कारण है कि उन्होंने काव्य की शोभा-वृद्धि में सहयोग दिया है। अर्थालंकारों की अपेक्षा कवि ने शब्दालंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। अनुप्रास, यमक एवं श्लेष का इसमें अतिशय प्रयोग हुआ है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि को उनके प्रति किसी प्रकार का मोह है। वास्तव में इन अलंकारों द्वारा सर्वत्र भाव के सौंदर्य में वृद्धि ही हुई है उदाहरणार्थ निम्नलिखित छंद में अनुप्रास द्वारा ओज की भव्य सृष्टि देखिए:—

उहै घरी उहिं पलिन, उहैं दिन बेर उहै सजि।
सकल सूर सामंत, लिए सब बोलि बंब बजि॥

इसी प्रकार यमक द्वारा भाव-सौन्दर्य की अभिवृद्धि और संरक्षण का एक उदाहरण देखिए:—

बर गोरी पद्मावती, गहि गोरी सुलतान।
निकट नगर दिल्ली गये, अत्र भुजा चहुँवान॥

अर्थालंकारों में कवि ने उपमा एवं उत्प्रेक्षा को ही विशेष रूप से ग्रहण किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अलंकारों की ओर कवि की कम प्रवृत्ति थी अथवा उनके संयोजन के लिए आवश्यक प्रतिभा का उनके पास अभाव था। 'रासो' में हमें इन सभी का व्यापक रूप से प्रयोग मिलता है, किन्तु आलोच्य प्रकरण में केवल उल्लिखित अलंकारों का ही स्वाभाविक प्रयोग दृष्टिगत होता है। वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार में अपनी सहज कल्पना का

ग्रन्थन कर कवि ने कितने उत्कृष्ट भाव की सृष्टि की है :—

मत्त मदगलितं सै पंच दंती ।
मनो सांम पाहार बग पंति पंती ॥

इन अलंकारों के अतिरिक्त हमें 'पद्मावती समय' में डिंगल के प्रसिद्ध शब्दालंकार 'वैग सगाई' का प्रयोग भी प्राप्त होता है । इस अलंकार के अनुसार छन्द के किसी भी चरण का प्रथम वर्ण उसी चरण के अन्तिम शब्द के आदि वर्ण मे एकता रखता है । 'पद्मावती' समय' में यद्यपि हमें चारों चरणों की वैण सगाई तो प्राप्त नहीं होती, किन्तु दो और एक चरण की वैण सगाई का वहाँ प्राचुर्य है । आगे हम इन दोनों को क्रमशः उदाहृत करेंगे:—

(१) जंग जुरन जालिम जुझार, भुज सार भार भुअ ।
धर धमंकि भजि मेस, गगन रबि लुप्प, रैन हुअ ॥
(२) संभरि नेरस गोमेम पूत ।
देवंत रूप अवतार धून ॥

पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से कवि ने प्रस्तुत 'समय' में दूहा, कवित्त, गाथा, पद्धरी एवं भुजंगी नामक छन्दों का प्रयोग किया है । प्रायः उन्होंने दोहे के अन्तिम चरण का कवित्त के प्रथम चरण के रूप में पुनर्संस्थापन किया है । यद्यपि इसके अपवाद भी एक-दो स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं, किन्तु वे अपने आप में अत्यन्त नगण्य हैं । इस अध्याय में छन्दों का चयन कवि ने अत्यन्त कौशलपूर्वक किया है । दोहा छन्द में विषय की सामान्य पूर्व-सूचना प्रदान करने के अनन्तर कवि ने उसके तुरन्त बाद कवित्त में अपने मुख्य वर्ण्य का विस्तार से स्पष्ट विवेचन करने का प्रयास किया है । दोहे के अन्तिम चरण के पुनर्लेखन का कारण भी सम्भवतः यही है कि कवि भावक के अन्तम् में इन दोनों छन्दों के प्रति समान चेतना को स्थापित रखने का इच्छुक है । कविता के उस प्रारम्भिक युग में काव्य-रचना की इसी पद्धति का अनुशीलन सबसे अधिक स्वाभाविक भी है । आधुनिक युग के बहुश्रुत और अति मेधावी कवि की भाँति चन्द द्वारा भी विषय का तुरन्त स्पर्श करने

के कौशल का प्रदर्शन सम्भवतः कुछ अनपेक्षित भी है। उस युग के कवि के लिए पर्याप्त है कि वह विषय में बिना उलझे हुए, उसका स्पष्ट रीति से प्रतिपादन कर सके। इन दोनों छन्दों के अनन्तर 'भुजंगी' का प्रयोग करने में भी कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इस छन्द का विधान करते समय उनका इस पर पूर्ण अधिकार रहा है और विषय के अनुरूप इसके निबन्धन में कहीं भी शिथिलता का संचार नहीं हो पाया है।

(३)

'पद्मावती समय' के कथानक पर एक प्रमुख आरोप यह है कि उसका संघटन इतिहास-विरुद्ध तत्वों से हुआ है। मेरा विचार है कि इस सम्पूर्ण अध्याय की सत्ता को ही इस प्रकार अस्वीकृत कर देना असंगत है। इस दोषान्वेषण से पूर्व हमें आधुनिक युग के उस साहित्य का विश्लेषण करना चाहिए, जिसे युग-विशेष के वातावरण के मोह में ऐतिहासिक बनाने का प्रयास किया जाता है और जहाँ घटनाएँ और पात्र सभी कल्पित होते हैं। आज ऐसी अनेक रचनाएँ साहित्य-मनीषियों द्वारा गौरवान्वित की गई हैं जो मूलतः ऐतिहासिक नहीं हैं और जिनमें इतिहास का आभास है। 'पद्मावती समय' की कथावस्तु इस साहित्य से कदापि हीन नहीं है। कवि ने सम्पूर्ण घटना-चक्र का इतने कौशलपूर्वक नियोजन किया है कि साधारण दृष्टि-विक्षेप से हमें उसमें किसी प्रकार की अनैतिहासिकता के दर्शन नहीं होते। इस दशा में यह मानना कवि के साथ निश्चय ही सबसे बड़ा अन्याय होगा कि इस 'समय' की रचना चन्द के किसी ऐसे परवर्ती व्यक्ति ने की है जिसे इतिहास का पूर्ण ज्ञान न था। सत्य तो यह है कि इस अध्याय की काव्य-विभूति पद-पद पर ऐसा उद्घोष करती हुई प्रतीत होती है कि इसमें क्षेपक अंश नहीं हैं और यह चंद के हृदय की प्रतिनिधि सृष्टि है।

'पृथ्वीराज रासो' की रचना उस युग में हुई थी, जब भारतवर्ष में योग के चमत्कार-पक्ष की प्रधानता थी और हस्तलाघव द्वारा जनता को विशेष तृप्ति तथा आनन्द का अनुभव होता था। इसी कारण 'पद्मावती

समय' में भी हमें कुछ अतिप्राकृतिक तत्वों की सन्निहिति उपलब्ध होती है। इस प्रकार के प्रसंगों में शुक से सम्बन्धित प्रकरण विशेषतः दृष्टव्य है। वर्तमान युग की वैज्ञानिक और तर्कसम्मत दृष्टि से इस प्रकार के वर्णन हमें सर्वथा अस्वाभाविक तथा असंगत प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि कवि-समय के अन्तर्गत इसे मान्यता प्राप्त है, किन्तु इतना होने पर भी इस के लिए एक विशेष सीमा का निर्धारण होना चाहिए। हमारे कवि ने इस तथ्य का सर्वथा विस्मरण कर दिया है और यही कारण है कि उनके द्वारा वर्णित शुक-संवाद एवं तत्सम्बन्धी अन्य क्रिया-वृत्तियाँ हमें नितान्त हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। उच्च कोटि के साहित्य में इस प्रकार के स्थलों से न किसी प्रकार का मनोरंजन ही होता है और न किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति ही! इसी प्रकार के कुछ वर्णन-खण्ड देखिए:—

सुक समीप मन कुँवरि को, लग्यौ वचन कै हेत।
अति विचित्र पण्डित सुआ, कथत जु कथा अमेत॥

लै पत्री सुक यों चल्यौ, उड्यौ गगन गहि बाव।
जहँ दिल्ली प्रथिराज नर, अट्ठ जाम में जाव॥

अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है और यही कारण है कि उस पर तत्कालीन परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'पद्मावती समय' पर भी युगीन वातावरण की पर्याप्त छाप है और उसके अनेक छन्दों में तत्सम्बन्धी क्षेत्रों से प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के स्पष्ट चिन्ह वर्तमान हैं। वास्तव में इस दृष्टिकोण से उसका परिशीलन करने पर हमें उस युग-विशेष की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। आगे हम इन तीनों का क्रमशः विवेचन करेंगे :—

(i) सामाजिक परिस्थिति:—

'पद्मावती समय' में हमें इतिहास के राजपूत युग की सामाजिक स्थिति के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। सबसे प्रथम कवि ने उस युग के शासन को आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर और समृद्ध माना है। इससे हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्त के अनुसार जनता भी अर्थ-चिन्ता से मुक्त होगी। इस बात का कोई कारण नहीं कि हम हम ऐसा न मानकर शासन द्वारा प्रजा के शोषण की व्यर्थ कल्पना करें। इसी प्रकार यह भी सहज ही लक्षित हो जाता है कि तत्कालीन जनता का विद्या के प्रति विशेष अनुराग था। उसके विविध अंगों में निष्णात होने के साथ-साथ जिज्ञासु व्यक्ति ज्योतिष की ओर भी रुचि रखते थे। विवाह का आयोजन करने में ब्राह्मण और कुल-पुरोहित का अत्यन्त महत्व था। बाल-विवाह की प्रथा का उस समय साधारणतः प्रचलन था और स्वयं अधीश्वर भी इस विषय में कोई आदर्श उपस्थित न करते थे। कवि ने पद्मावती से विवाह के समय पृथ्वीराज की १६ वर्ष की अवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया है—

बैसह बरीस षोडस नरिंद ।
आजानु बाहु भुअलोक यंद ॥

यह निश्चित है कि उस युग का समाज किसी प्रकार की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्ताधारा से ग्रस्त न था और प्रत्येक शुभ कार्य की क्रिया-विधि को भव्य समारोह के साथ सम्पन्न किया जाता था। पृथ्वीराज के विवाह के अवसर की परिस्थितियाँ इसकी प्रमाण है।

'पद्मावती समय' के अध्ययन से व्यंजना द्वारा यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनता विविध देवी-तेवताओं का पूजन करती थी। कुमारी कन्याएँ विवाह के लिए उपयुक्त वर प्राप्त करने के उद्देश्य से शिव-पार्वती की विशेषतः वन्दना करती थीं। पौराणिक प्रसिद्धियों में राजा का अधिक

विश्वास था। युद्ध के अवसर पर 'धर धसत नाग' की उक्ति सूक्ष्म रूप में इसी का संकेत देती है। अपने पूर्वरागमय विवाह के लिए पद्मावती ने कृष्ण और रुक्मिणी को आदर्श माना है। इससे भी उपर्युक्त परम्परागत पुराण-प्रेम की व्यंजना उपलब्ध होती है। कवि ने भारतीय अनुश्रुतियों में पर्याप्त विश्वास व्यक्त किया है। इसी कारण पृथ्वीराज के गुणों की तुलना उन आदि पुरुषों से की गई है, जिनमें से अधिकांश पौराणिक-साहित्य से सम्बद्ध हैं। यथाः—

बलि, बैन करन जिमि दान मान।
सत सहस सील हरिचन्द समान॥

(ii) **धार्मिक परिस्थिति—**

राजनीतिक दृष्टि से 'पद्मावती समय' में एकतन्त्रवाद की सर्व प्रभुत्व सम्पन्न शासन-सत्ता का समर्थन किया गया है। पृथ्वीराज, विजयपाल कुमोदमनि और शाहबुद्दीन, ये सभी अपने-अपने देश की राजनीति पर एकाधिकार रखते हैं और कूटनीतिक अभिसंधियों से इन सभी का पूर्ण परिचय है। शाहबुद्दीन के चरों की सतर्कता इस दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय है। वे पृथ्वीराज को अल्प सैनिकों के साथ अपने राज्य की सीमा से बाहर समुद्र शिखर की ओर जाते हुए देखकर अपने स्वामी को अविलम्ब इस समाचार से अवगत करा देते हैं:—

जा दिन सिपर बरात गय, जा दिन गय प्रथिराज।
ताही दिन पतिसाह कों, भइ गज्जनै अवाज॥

(iii) **राजनीतिक परिस्थिति—**

राजनीति में सतर्कता एवं दूरदर्शिता का अपना एक विशेष स्थान है। कवि ने शाहबुद्दीन को इन दोनों ही तत्वों से युक्त माना है, किन्तु हिन्दू-नरेश इसके विपरीत अत्यन्त निश्चिन्त रहे हैं। यह सत्य है कि उनके सैनिकों में यवन सेना की अपेक्षा अधिक उत्साह है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण से

रत्नसेन और पद्मावती की यही कथा इस काव्य की आधिकारिक कथा है। इसके अतिरिक्त कवि ने आधिकारिक कथा को गति प्रदान करने करने के लिए उससे सम्बद्ध अनेक प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश किया है। इन प्रासंगिक कथाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(अ) हीरामन की शुक कथा
(ब) समुद्र द्वारा रत्न प्रदान करने की कथा
(ज) देवपाल-दूती-प्रसंग
(स) राघव-चेतन-प्रसंग
(ह) गोरा-बादल-प्रसंग

प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन की पूर्ण प्रतिपत्ति नितान्त आवश्यक है। इसके लिए कवि को एक ओर तो घटना-चक्र की व्यवस्थित ति की योजना करनी चाहिए और दूसरी ओर विभिन्न घटनाओं में सात्मक प्रकरणों के समावेश का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य में कवि को इतिवृत्तात्मकता के निर्वाह के अतिरिक्त इसकी दृष्टि से भी घटनाओं का अनुबन्धन करना होता है। आगे हम इन दोनों ही दृष्टियों से 'पद्मावत' की परीक्षा करेंगे :—

(१) इतिवृत्तात्मकता

कथा-योजना करते समय इतिवृत्तात्मक स्थलों से हमारा तात्पर्य उन स्थलों से है जो घटना-वैचित्र्य द्वारा पाठक की कुतूहल वृत्ति को तुष्ट कर उसे मनोरंजन प्रदान करते हैं। ऐसे स्थलों पर रसावेग के लिए अधिक अवकाश नहीं होता। संस्कृत की 'हितोपदेश' और 'कथा सरित्सागर' आदि कथा-रचनाओं में यही प्रवृत्ति उपलब्ध होती है और इतिवृत्त-युक्त होने के कारण ये कृतियाँ जन-साधारण को मुग्ध करने में पूर्णतः सक्षम हैं। इसी भाँति विभिन्न लोक-कथाओं में भी इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य रहता है तथापि कुछ लोक-कथाओं में इतिवृत्त के साथ-साथ रस का भी उपयुक्त निर्वाह होता है।

महाकवि जायसी ने 'पद्मावत' की रचना एक ऐसी ही प्रसिद्ध लोककथा के आधार पर की है। इसमें प्रबन्ध-कल्पना करते समय कवि ने इतिवृत्त-निर्वाह के साथ-साथ रस-योजना पर भी उचित ध्यान दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि शृंगार-रस-प्रधान काव्य होने के कारण 'पद्मावत' में कविवर तुलसीदास के 'रामचरित मानस' की भाँति विभिन्न मानव-दशाओं के व्यापक चित्रण का अभाव है तथापि 'पद्मावत' में प्रबन्धकाव्य के अनुरूप रसात्मक घटना-निबन्धन की स्थिति निरन्तर वर्तमान रही है।

(२) रसात्मकता

प्रबन्ध-काव्य में रस-योजना करते समय पात्रों की भाव-गति का चित्रण करने के साथ-साथ तत्कालीन वातावरण का तद्नुकूल चित्रण भी आवश्यक है। इस परिस्थिति-चित्रण का सहृदय की मनसा पर उपयुक्त प्रभाव पड़ता है और वह आगामी प्रकरण में समाविष्ट रस को ग्रहण करने के लिए पहले से ही प्रस्तुत रहता है। अतः काव्य में रस की गहन अनुभूति के लिए भाव-गति और वातावरण का सम्यक् चित्रण रहता है।

'पद्मावत' में कवि ने इतिवृत्त-निर्वाह के साथ-साथ रसावेग से पूर्ण मर्मस्पर्शी स्थलों की भी विशद योजना की है। इस दृष्टि से इस काव्य के पूर्वार्द्ध में समाविष्ट प्रेम-विषयक प्रकरणों के अन्तर्गत प्रेम-पथ की कठिनाइयों तथा रत्नसेन-पद्मावती संयोग का मार्मिक चित्रण हुआ है। उत्तरार्द्ध भाग में कवि ने इस प्रकार के स्थलों में उदात्तीकरण की वृत्ति का समावेश करते हुए नागमती-वियोग, गोरा-बादल-प्रतिज्ञा, बादल का युद्ध-गमन, पद्मावती द्वारा दूती के समक्ष सतीत्व-गौरव की व्यंजना तथा पति-मृत्यु पर पद्मावती और नागमती का सहगमन जैसे मर्मस्पर्शी दृश्यों का प्रौढ़ चित्रण किया है।

सम्बन्ध-निर्वाह .

प्रबन्ध-काव्य में विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। 'पद्मावत' में कवि ने इस ओर यथेष्ट ध्यान दिया

है। यद्यपि इस काव्य में कहीं-कहीं घटना-विराम भी लक्षित होता है तथापि सामान्यतः इसका एक प्रकरण दूसरे प्रकरण से सहज-सम्बद्ध ही रहा है।

स्वरूप की दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य के 'व्यक्ति-प्रधान प्रबन्ध-काव्य' और 'घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य' नामक दो भेद हो सकते हैं। 'पद्मावत' इस दृष्टि से एक घटना -प्रधान प्रबन्ध काव्य है। इस प्रकार की कृतियों में केवल उन्हीं वृत्तांतों का समावेश किया जाता है जो काव्य के 'कार्य' से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। 'पद्मावत' में कवि ने 'पद्मावती' के सती होने को 'कार्य' के रूप में उपस्थित किया है। इसी कारण इसमें कवि ने राघव चेतन से सम्बन्धित कथानक का उतना ही अंश समाविष्ट किया है जो कार्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है। चित्तौड़--दुर्ग पर आक्रमण के उपरान्त राघव चेतन की कथा के बहिष्कार और रत्नसेन-पद्मावती-विवाह के उपरान्त हीरामन शुक की कथा के बहिष्कार का यही कारणहै।

पश्चिम के प्रसिद्ध साहित्य -शास्त्री अरस्तू ने 'कार्य' की अन्विति के लिए काव्य के वस्तु-विन्यास को आदि, मध्य और अन्त के रूप में वर्गीकृत करने पर बल दिया है। 'पद्मावत' में इन अवस्थाओं की पृथक्-पृथक् सफल योजना की गई है। इस दृष्टि से पद्मावती-जन्म से रत्नसेन के सिंहलगढ़ को घेरने तक की कथा 'पद्मावत' के कथानक का आदि-अंश है। रत्नसेन-पद्मावती-विवाह और उनके सिंहलद्वीप से प्रस्थान तक की कथा को उसका मध्य भाग कहा जा सकता है और राघव-चेतन के देश-निष्कासन से पद्मावती के सती होने तक की कथा 'पद्मावत' के कथानक का अन्तिम भाग है। मूलतः इस काव्य की सम्पूर्ण कथा का झुकाव मध्य भाग अर्थात् पद्मावती-रत्नसेन-विवाह की ओर रहा है। विवाह के उपरान्त कवि ने जिन उत्सवों और सुख-भोगों का वर्णन किया है वे सब इस मध्य भाग के विराम के रूप में है। इसके पश्चात् राघव चेतन के देश-निष्कासन से 'पद्मावत' का घटना-प्रवाह 'कार्य' की ओर उन्मुख हो गया है।

प्रबन्ध-काव्य के इतर गुण

कविवर जायसी ने अपने 'पद्मावत' में कथा को भारतीय रीति के अनुसार सर्गबद्ध न रखकर उसे खण्डों में विभाजित करते हुए फारसी काव्य की मसनवी शैली का अनुकरण किया है। उन्होंने इस काव्य को आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं से युक्त रखते हुए वस्तु-विन्यास के आकर्षण को निरन्तर बनाए रखा है। उनके काव्य का नायक रत्न-सेन सद्वंशजात है और उसमें विभिन्न उच्चतर मानवीय गुणों की उपयुक्त स्थिति रही है। इसी प्रकार उसमें शृंगार, वीर और शान्त नामक रसों की उपयुक्त योजना की गई है तथा प्रकृति के अनेक कोमल और उग्र चित्रों को उपस्थित करने का भी कवि को निरन्तर ध्यान रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि उसकी कथा में कहीं-कहीं अनावश्यक विराम अथवा व्यवधान रहे हैं और कवि ने अनेक स्थानों पर केवल वस्तु-परिगणन की प्रणाली को ग्रहण किया है तथापि इस काव्य में मानव की रागात्मिका वृत्ति को उद्बुद्ध करने वाले प्रभावात्मक स्थलों का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश हुआ है और कुछ दृष्टियों से असफल होने पर भी यह प्रेम-गाथा-काव्य-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य बन पड़ा है।

६. 'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति

मानव-जीवन में प्रेम को अनादि काल से ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है और शौर्य, शान्ति तथा करुणा आदि अन्य भावनाओं का स्थान उसकी अपेक्षा गौण ही है। लौकिक जीवन का अध्ययन करने पर हमें प्रेम के निम्नलिखित तीन रूप उपलब्ध होते हैं :—

(१) विवाह से पूर्व गुण-श्रवण अथवा चित्र-दर्शन के कारण नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम ।

(२) विवाह के उपरान्त पति-पत्नी का विधि-सम्मत प्रेम ।

(३) विवाह के उपरान्त विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए पर-पुरुष अथवा पर-स्त्री से प्रेम ।

"पद्मावत" में रत्नसेन के हृदय में गुण-श्रवण के कारण पद्मावती के प्रति प्रेम का उद्भव हुआ है।

'पद्मावत' की रचना भक्ति-काल की प्रेमगाथा काव्य-परम्परा के अन्तर्गत हुई है। अतः इसमें लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम को अभिव्यंजित करने की प्रणाली को ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से इसमें रत्नसेन की स्थिति साधक के समान रही है और पद्मावती को ईश्वरीय शक्ति के रूप में उपस्थित किया गया है।

जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेम के प्रयत्न को नायक की ओर से वर्णित करते हुए प्रेम-मार्ग की कठिनता द्वारा नायक के प्रेम की परीक्षा लेने की प्रणाली को अपनाया है । फारस के मजनू और फ़रहाद की भाँति वह भी मार्ग के असंख्य दुःखों को वहन करता

हुआ प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए सिंहल द्वीप पहुँचता है। प्रेम के प्रकाश से उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है और वह सब कुछ देखने में समर्थ हो जाता है :—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि ।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जौ देखा मन बूझि ।।

इस प्रकार प्रारम्भ में कवि ने नायक के प्रेम की तीव्रता का वर्णन किया है, किन्तु आगे चलकर उसी भाँति नायिका के प्रेम में भी तीव्रता का संचार करते हुए उसने दोनों की प्रेम-भावना को सम आधार पर स्थापित कर दिया है ।

'पद्मावत' में फारसी की मसनवियों के एकांतिक, लोकबाह्य एवम् आदर्शात्मक प्रेम के साथ-साथ भारतीयों के लोक-सम्बद्ध एवम् व्यवहारात्मक प्रेम को भी स्थान प्रदान किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि जायसी ने अपने काव्य में प्रेम के एकांतिक स्वरूप को प्रमुख स्थान प्रदान किया है तथापि उन्होंने प्रेम के लोक-व्यवहार-संबंधी पक्ष का सर्वथा त्याग नहीं किया है। वस्तुत: उन्होंने एकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता का निर्वाह करने के साथ-साथ स्थान-स्थान पर प्रेम का जीवन के अन्य अंगों से भी संबंध स्थापित किया है। इस प्रकार उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से सहज-संबद्ध रही है।

'पद्मावत' में प्रेम की भावात्मक और व्यवहारात्मक, दोनों शैलियों को स्थान प्राप्त हुआ है। दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन करने के अतिरिक्त जायसी ने यात्रा, युद्ध तथा कंगन आदि का वर्णन करते हुए प्रेम को लोक-संबद्ध रखा है। इसी प्रकार उन्होंने मातृस्नेह, सपत्नी-कलह, छल तथा सतीत्व आदि के वर्णन द्वारा प्रेम के व्यवहारात्मक स्वरूप की भी कुशल योजना की है तथापि तुलसी के 'रामचरित मानस' की भाँति जीवन की विभिन्न स्थितियों का परिपूर्ण वर्णन इसमें नहीं हो पाया है।

'पद्मावत' में शुक के मुख से पद्मावती के रूप-वर्णन के श्रवण-मात्र से ही नायक को प्रेमबद्ध दिखलाया गया है, किन्तु प्रेम का यह उदय और उसके फलस्वरूप नायक द्वारा वियोग धारण करना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। रूप-गुण-प्रधान होने के कारण पद्मावती के प्रति रत्नसेन का यह पूर्व राग गंभीरता और स्वाभाविकता से सर्वथा शून्य है। वास्तव में प्रेम-व्यवहार के लिए जिन मधुर और कोमल भावनाओं की आवश्यकता होती है उनका केवल रूप-गुण-श्रवण से ही उद्भव नहीं हो सकता। इस दोष का कारण यह है कि कवि ने इस कृति में अलौकिक एवम् ईश्वरीय प्रेम को साथ-साथ व्यंजित करने का प्रयत्न किया है। रत्नसेन के प्रेम की वास्तविकता केवल उसी समय प्रकट हो पाती है जब वह पद्मावती के सम्मुख पार्वती के अप्सरा रूप को भी नगण्य समझता है :—

भलेहि रंग अछरि तोर राता।
मोहिं दूसरे सौं भाव न बाता॥

इस प्रकार यह सिद्ध है कि जायसी ने लौकिक प्रेम के साथ ईश्वरीय प्रेम की व्यंजना करते समय औचित्य का कोई ध्यान नहीं रखा है। शुक द्वारा पद्मावती के रूप-वर्णन को सुनकर रत्नसेन केवल इसीलिए बेसुध हुआ है कि कवि का उद्देश्य गुरू से परोक्ष सत्ता के स्वरूप का आभास पाने वाले शिष्य की प्रेम-विह्वलता को व्यंजित करना है।

रत्नसेन की भाँति जायसी ने पद्मावती के पक्ष में भी प्रेम की अस्वाभाविकता का परिचय दिया है। शुक के मुख से रत्नसेन के सिंहल-द्वीप-आगमन का समाचार सुनने से पूर्व ही पद्मावती को कामजन्य व्याकुलता का केवल इसी कारण अनुभव हुआ है कि कवि का उद्देश्य इस रीति से रत्नसेन के भोग के अलक्ष्य प्रभाव को व्यंजित करना रहा है। वास्तव में पद्मावती के पूर्वराग एवं वियोग का प्रारम्भ रत्नसेन के रूप-[illegible]ण-श्रवण के पश्चात् ही माना जा सकता है।

का[illegible] पूर्व राग की पुष्टि विवाह-संबंध से होती है। जायसी को इस पुष्टि का

वर्णन करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ रत्नसेन के विवाहार्थ आने पर पद्मावती की असीम प्रसन्नता का निम्नलिखित चित्रण देखिए :—

हुलसे नैन दरस मदमाते। हुलसे अधर रंग-रस राते ॥
हुलसे कुच कसनी बंद टूटे। हुलसी भुजा वलय कर फूटे ॥

विवाह के उपरान्त जायसी ने संयोग से पूर्व रत्नसेन की व्याकुलता का पर्याप्त चित्रण किया है। इसी स्थान पर उन्होंने पद्मावती की सखियों द्वारा रत्नसेन के योगी-रूप की चर्चा कराके उसका उपहास कराने का प्रयत्न भी किया है। प्रथम संयोग के अवसर पर स्वयम् पद्मावती के मुख से भी कवि ने पति के प्रति अनादरपूर्ण वचनों की अभिव्यक्ति कराई है और रत्नसेन के योगी-रूप के प्रति उसकी उपेक्षा दिखलायी है। भारतीय परम्परा के अनुकूल न होने के कारण इसे कवि की असफलता ही कहा जायेगा । संयोग से पूर्व 'नवोढ़ा' नायिका के अनुकूल पद्मावती को पति संयोग से भयभीत दिखाकर कवि ने अवश्य ही मनोविज्ञान का परिचय दिया है। इसी प्रकार सखी-शिक्षा के उपरान्त पद्मावती के पति के समीप जाने का भी कवि ने मनोहारी रूप में वर्णन किया है। यथा:—

साजन लेइ पठावा आयसु जाइ न मेट।
तन मन जोबन साजि कै, देइ चली लेइ भेंट।।

विवाह के उपरान्त पति-गृह जाने पर भी पद्मावती के प्रेम को उज्ज्वल रूप में उपस्थित किया गया है। राजा रत्नसेन के बन्दी होने पर पद्मावती की क्षुब्धता, साहसिकता, एवम् सतीत्व-रक्षा इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं। इसी प्रकार पति की मृत्यु के उपरान्त उसके सती-शृंगार में भी निर्वाण से की उज्ज्वलता एवम् दिव्यता के दर्शन होते हैं।

पद्मावती के प्रेम की भाँति कवि ने 'पद्मावत' में नागमती के प्रेम की का भी सुन्दर वर्णन किया है। नागमती की प्रेम-भावना गार्हस्थ्य प्रे

परिपुष्टता लिये हुए है और उसके चरित्र में भारतीय पत्नी की पति के विषय में प्राप्त होने वाली आस्था का मधुर रूप में समावेश हुआ है इसी कारण विवाहित नारी के अनुकूल सर्वप्रथम उसका रूप-गर्विता वाला पक्ष हमारे समक्ष आता है। प्रेम गर्विता नारी का रूप भी हमें उसके चरित्र में दृष्टिगत होता हैं। पति के विमुख होकर सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करने पर वह हमारे समक्ष प्रोषितपतिका के वेदना-विह्वल रूप को लेकर आती हैं। भारतीय काव्य में वियोगिनी नारी के इस रूप का पर्याप्त व्याख्यान किया गया है और इस प्रकार के वर्णनों में जायसी द्वारा किये गये नागमती के विरह-वर्णन का महत्वपूर्ण स्थान है। रत्नसेन की मृत्यु पर नागमती के सती-शृंगार में भी हमें उसके चरित्र की भव्यता के दर्शन होते हैं।

जायसी ने 'पद्मावत' में बहुविवाह की प्रथा से उत्पन्न प्रेम-मार्ग की व्यावहारिक जटिलताओं का सुन्दर समाधान उपस्थित किया है। उन्होंने नागमती और पद्मावती के पारस्परिक कलह को दार्शनिक रीति से सुलझाने का प्रयत्न किया है और रत्नसेन द्वारा पति-पत्नी के संबंध को सेव्य-सेवक-भाव के रूप में उपस्थित कराया है। इस प्रकार उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार ईश्वर अनेक व्यक्तियों के लिये उपास्य रहता है उसी प्रकार पुरुष भी अनेक स्त्रियों से सफलतापूर्वक संबंध स्थापित कर सकता है।

'पद्मावत' में भारतीय प्रेम-पद्धति के साथ-साथ फारसी की मसनवियों में प्राप्त होने वाली प्रेम-पद्धति का भी उत्कृष्ट सम्मिश्रण हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि कवि ने 'पद्मावत' की रचना मूलरूप से फारसी की मसनवी शैली के आधार पर की है तथापि प्रेम-प्रतिपादन की दृष्टि से इस रचना की कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हैं। पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम का वर्णन करते समय कवि ने प्रारम्भ में रूप और गुण-श्रवण जैसी स्थूल

वृत्तियों का परिचय अवश्य दिया है तथापि मूलरूप से 'पद्मावत' में शृंगार रस के स्थूल पक्ष की अपेक्षा उसके मानसिक पक्ष को ही शीर्ष स्थान प्रदान किया गया है। इसी कारण कवि ने विवाह के उपरान्त रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम के स्वाभाविक विकास का अंकन किया है। पद्मावती के अतिरिक्त नागमती के प्रेम का वर्णन करने में भी जायसी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। नागमती के प्रेम का वर्णन करते समय उन्होंने स्पष्ट-कथन और व्यंजनात्मक प्रतिपादन की दोनों ही प्रणालियों का सफल निर्वाह किया है और उसके चरित्र को भारतीय नारी की गरिमा के अनुरूप मधुर रूप में अंकित किया है।

७. 'पद्मावत' में अध्यात्म-दर्शन

हिन्दी की प्रेमाख्यानक काव्य-कृतियों में कविवर मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' का सर्वोच्च स्थान है। लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की जो सुन्दर व्यंजना इसमें की गई है वह अपने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महात्मा कबीर ने अपनी चिन्तनमय आत्मानुभूति के द्वारा साधनामूलक अध्यात्म का जो शुष्क प्रतिपादन किया वह अपने में महत्वपूर्ण होता हुआ भी सामान्य जनता के लिए सहज रीति से बुद्धि-ग्राह्य न था। कविवर जायसी ने अपने अध्यात्म-दर्शन को प्रेम-तत्त्व की पृष्ठभूमि पर प्रस्थापित कर इस अभाव की पूर्ति की और हिन्दी की मध्य-कालीन भावधारा को एक नूतन चरण प्रदान किया। इस दिशा में उनका 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ है। इसमें कवि की अनुरागमयी आध्यात्मिक विचार-धारा के संकेत उपलब्ध होते हैं।

'पद्मावत' का प्रणयन एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में हुआ है और कवि ने इसमें सर्वत्र एक ऐसी भाव-भूमि के प्रस्थापन की चेष्टा की है जो प्रत्यक्षः लौकिक प्रतीत होती हुई भी अपने मूलरूप में सर्वथा आध्यात्मिक है। रत्नसेन और पद्मावती के कथानक को पृष्ठाधार के रूप में ग्रहण कर उन्होंने आत्मा तथा परमात्मा के अलौकिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यही कारण है 'पद्मावत' की कथा हमारे समक्ष एक अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के रूप में प्रस्तुत होती है। सांकेतिक कोश में कवि ने 'पद्मावत' के आध्यात्मिक तत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किय है :—

तन चित उर, मन राजा कीन्हा ।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनी चीन्हा ।।

गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा ।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।।

नागमती यह दुनिया धंधा ।
बांचा सोइ न एहि चित बंधा ।।

राघव दूत, सोइ सैतानू ।
माया अलादीन सुलतानू ।।

इससे स्पष्ट है कि 'पद्मावत' की सम्पूर्ण कथा अध्यात्मिक विचार-धारा की अभिव्यंजना करती है । अपने आध्यात्म-दर्शन को सहज तथा सरल भावभूमि पर अवतरित करने के लिये कवि ने स्थूल भौतिक उपकरणों का आश्रय लिया है । यही कारण है कि 'पद्मावत' में चित्रित पात्र प्रायः दोहरे व्यक्तित्व से युक्त हैं : उनके व्यक्तित्व का एक भाग स्थूल पार्थिव को अभिव्यक्त करता है, किन्तु दूसरा भाग सूक्ष्म अपार्थिव से सम्बन्धित है। वस्तुतः 'पद्मावत' के प्रणयन में जायसी का प्रमुख उद्देश्य साधना के पार्श्व में लौकिक कथा को अभिव्यक्त करना रहा है और इसी कारण उन्होंने मन की साधना को कथा का रूप प्रदान किया है ।

'पद्मावत' के चेतन तथा अवचेतन दोनों प्रकार के पात्र हमारे समक्ष प्रतीक रूप में प्रस्तुत होते हैं । इसमें चित्तौड़ मानव-तन का प्रतीक है तथा राजा रत्नसेन मनुष्य के मन के प्रतीक होकर आये हैं। जिस प्रकार तन में स्थित मन सामान्यतः लौकिक विषय-वासना में लिप्त रहता है उसी प्रकार चित्तौड़ में रहने पर रत्नसेन नागमती में आसक्त रहता है जो स्पष्ट ही सांसारिक मोह-माया की प्रतीक मानी गयी है ।

निर्गुण कवियों ने गुरू को साधना के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है । उनके मतानुसार कोई भी साधक गुरू के अभाव में अपने लक्ष्य

की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता । यही कारण है कि जायसी ने गुरू को अत्यधिक मान्यता प्रदान की है और साधना-पथ में उनकी आवश्यकता पर विशेष बल देते हुए कहा है :—

बिनु गुरू जगत को निरगुण पावा ।

'पद्मावत में हीरामन शुक गुरू का प्रतीक रहा है । वह रत्नसेन-रूपी आत्मा को पद्मावती-रूपी परमात्मा के अस्तित्व का बोध कराता है और तदुपरान्त अध्यात्म-क्षेत्र में उसका पथ-प्रदर्शन भी करता है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आत्मा को कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु अपने हृदय में ही वह परमात्म-तत्व को प्राप्त कर सकती है । इसके लिये उसे साधना करने की आवश्यकता पड़ती है । साधक के लिये सर्वप्रथम अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी करना अनिवार्य है अन्यथा उसे आत्म-बोध नहीं हो सकता, किन्तु इसके लिये उसे महान् कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । इसके अतिरिक्त सांसारिक मोह-माया का आकर्षण भी उसके कार्य में विघ्न डालता है । वास्तव में केवल बिरले साधक ही दृढ़तापूर्वक सांसारिक माया-जाल से विमुक्त हो पाते हैं । इसी कारण जायसी ने सांकेतिक कोश में लिखा है :—

नागमती यह दुनिया धंधा ।
बांचा सोई न एहि चित बंधा ।।

'पद्मावत' में सिंहल को हृदय का प्रतीक माना गया है तथा पद्मावती को सहज बुद्धि अथवा परमात्मा के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। जिस प्रकार साधक अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर परमात्मा की ओर उन्मुख होता है उसी प्रकार राजा रत्नसेन चित्तौड़ रूपी तन का परित्याग कर सिंहल रूपी हृदय की ओर उन्मुख होते हैं । हीरामन शुक गुरू की भाँति उनका पथ-प्रदर्शन करता है और अन्त में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए वह अपने लक्ष्य की सिद्धि में सफल हो जाते हैं तथा राजकुमारी पद्मावती से उनका विवाह हो जाता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में कवि ने अपने अध्यात्म-दर्शन को उपर्युक्त प्रतीकों पर आधृत रखा है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य पात्र भी पूर्वार्द्ध में आते हैं, किन्तु उनका चित्रण प्रतीक-रूप में न होकर सामान्य रूप में हुआ है। अतः उनसे किसी प्रकार के अध्यात्म-तत्व की पुष्टि नहीं होती। उदाहरणार्थ पद्मावती के पिता राजा गंधर्वसेन, उनकी प्रजा, शिव, अप्सरा आदि ऐसे ही पात्र हैं। इसी प्रकार पद्मावती के पुत्र कमलसेन तथा नागमती के पुत्र नागसेन का जन्म भी केवल लौकिक कथा को गति प्रदान करने के लिये हुआ है और अपार्थिव कथा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नागमती के विरह-वर्णन में भी केवल पार्थिव-विरह का ही अंकन हुआ है और उसमें किसी प्रकार के अध्यात्म-तत्व का समावेश नहीं हुआ है। यहाँ यह शंका उठती है कि पद्मावती-रूपी परमात्मा को प्राप्त करने के उपरान्त भी रत्नसेन-रूपी मन चित्तौड़-रूपी तन में क्यों स्थित रहा है और उस अवस्था में नागमती-रूपी सांसारिक मोह-माया उसी के समीप क्यों रहती है? वस्तुतः इसका प्रतीकार्थ यह है कि वृत्तियों के ईश्वरोन्मुख हो जाने पर सांसारिक माया-जाल मानव के समीप रहते हुए भी उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता।

'पद्मावत' के उत्तरार्ध की कथा के लिये जायसी ने केवल दो प्रतीकों का उल्लेख किया है---राघव चेतन जो शैतान का प्रतीक है तथा सुलतान अलाउद्दीन जो माया के प्रतीक हैं। वस्तुतः उत्तरार्द्ध की कथा के आध्यात्मिक तत्व में शैथिल्य का प्रवेश हो गया है। यहाँ आत्मा (रत्नसेन) तथा परमात्मा (पद्मावती) के मिलन के उपरान्त शैतान (राघव चेतन) तथा माया (अलाउद्दीन) का विघ्न डालना प्रायः अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यदि उन्होंने अपना कार्य लक्ष्य की सिद्धि से पूर्व ही किया होता तो यह अपेक्षाकृत अधिक उचित होता। इससे 'पद्मावत' की आध्यात्मिक विचार-धारा निश्चय ही अक्षुण्ण रहती, किन्तु अब उत्तरार्द्ध की वर्त्तमान स्थिति के कारण उसमें वह गति नहीं रही है। इस प्रकार यह सिद्ध है

कि 'पद्मावत' की उत्तरार्ध की कथा का अध्यात्म-दर्शन अधिक स्पष्ट नहीं हैं ।

यदि 'पद्मावत' की समग्र कथा का एकस्थानवर्ती मूल्यांकन करें तो उसकी आध्यात्मिक भाव-धारा अनेक स्थलों पर खंडित होती हुई प्रतीत होती है । यही कारण है कि अधिकांश विद्वान् इसे अन्योक्ति न मानकर एक आध्यात्मिक समासोक्ति के रूप में परिगृहीत करते हैं। अतः 'पद्मावत' के अध्यात्म-दर्शन की विवेचना करते समय हमें केवल उन्हीं छंदों को आधार रूप में ग्रहण करना होगा जिनमें दोहरे अर्थ का समावेश है और जो लौकिक तत्वों की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अलौकिक तत्वों का भी स्पष्ट आभास देते हैं। निर्गुण मार्गी कवि होने के नाते जायसी ईश्वर का केवल एक ही स्वरूप मानते हैं और उसी की वन्दना करते हैं। उन्होंने ईश्वर को सृष्टि का मूल कारण कहा है और उसकी अपार शक्ति का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उदाहरणार्थ 'पद्मावत' के 'स्तुति खंड' की प्रस्तुत पंक्तियाँ देखिए :—

अति अपार करता सब करना ।
बरनि न कोई पावे बरना ।।

सात सरग जो कागद करई ।
धरती समुद दुहुँ मसि भरई ।।

जावत जग साखा बन ढाखा ।
जावत केस रोव पंखि-पाखा ।।

जावत खेह रेह दुनियाउ ।
मेघबूंद औ गगन तराई ।।

इस खंड में जायसी ने ईश्वर की महिमा का अत्यन्त तन्मयतापूर्वक वर्णन करते हुए यह माना है कि विश्व में दृष्टिगोचर होने वाली समग्र वस्तुएँ तथा जीव उसी परमात्म-तत्व के द्वारा निर्मित किये गये हैं । उनके

अनुसार प्रत्येक प्राणी की आत्मा में उसी परमात्मा का वास है और वह सब की अन्तरात्मा की बातों से पूर्णतया परिचित है। इतना होने पर भी वह किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता और विश्व के समक्ष केवल उसके विविध कार्य ही प्रकट हो पाते हैं। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर अपना कार्य अलक्षित रीति से करता है और गुप्त रूप में वह विश्व के कण-कण में परिव्याप्त रहता है :—

अलख अरूप अबरन सो कर्ता।
वह सब सों, सब ओहि सों बर्ता॥
परगट गुपुत सो सरबबिआपी।
धरमी चीन्ह, न चीन्हें पापी॥
न ओहि पूत न पिता न माता
ना ओहि कुटुम्ब न कोई संग नाता॥
जना न काहु, न कोइ ओहि जना।
जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥

जिस समय साधक की अन्तःवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं उस समय उसे विश्व का समस्त वैभव तुच्छ प्रतीत होने लगता है। आत्म-बोध की उस विशेष अवस्था में उसका विश्व-सम्बन्धी समस्त ज्ञान विलुप्त होने लगता है और उसे प्रत्येक स्थल पर केवल उस अलौकिक तत्व के ही दर्शन प्राप्त होते हैं। उस समय दिव्य प्रेम की भावना साधक के अन्तस् को इतना अधिक अभिभूत कर लेती है कि वह हृदय की पूर्व-स्थित भाव-नाओं का सहज ही विस्मरण कर देता है और उसे समग्र प्रत्यक्ष तथा कल्पित स्थलों पर केवल एक ही भावना की सन्निहिति दृष्टिगोचर होने लगती है। 'पद्मावत' में साधक की उस अनुरागमयी अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया गया है :—

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥

साधक की इस चरम अवस्था का वर्णन प्रायः प्रत्येक निर्गुण कवि ने किया है। महात्मा कबीर के अधोलिखित दोहे में भी इसी भावना का सन्निवेश है :—

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

सूफी-दर्शन से प्रभावित होने के कारण जायसी ने प्रेम-तत्त्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनका विश्वास है कि केवल प्रेम-मार्ग का अनुगमन करने पर ही आत्मा को परमात्म-तत्त्व का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, किन्तु वह पथ अनेक कठिनाइयों से युक्त है। अतः केवल बिरले व्यक्ति ही उस पर गमन कर सकते हैं। इस महत् कार्य को प्रारम्भ करने के लिए जीवन में साधना के तत्व की गम्भीर परिव्याप्ति अनिवार्य है। साधक को अपने समस्त भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर ही इस दिशा की ओर उन्मुख होना चाहिए अन्यथा उसे कदापि सफलता की उपलब्धि न हो सकेगी और उसका लक्ष्य सदैव उससे दूर ही रहेगा। यही कारण है कि 'पद्मावत' में हीरामन-रूप गुरु रत्नसेन-रूपी साधक के समक्ष प्रेम-मार्ग की गहनता का वर्णन करते हुए कहता है :—

पहिले सुख नेहहि जब जोरा।
पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा॥
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू।
पहुँचि न जाइ परा तस फेरू॥
ज्ञान-दिस्टि सौं जाइ पहूँचा।
पेम अदिस्ट गगन तें ऊँचा॥
ध्रुव तें ऊँच प्रेम-धुव ऊआ।
सिर देइ पाँव देइ सो छूआ॥

कबीर ने भी जायसी की भाँति प्रेम के निर्वहण को अत्यन्त कठिन

माना है और उसी रूप में उसका प्रतिपादन किया है :—

सीस उतारै भुइँ धरै तापर राखै पाव ।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय तो आव ॥

जायसी ने अपने इष्टदेव की वन्दना करते हुए उसे अलख, अरूप और अनादि आदि अनेक विशेषणों से अभिहित किया है । वह निर्गुण भगवान् के उपासक थे, किन्तु उनकी साधना-प्रणाली कबीर की भाँति शुष्क नहीं थी । रत्नसेन तथा पद्मावती को आत्मा तथा परमात्मा की प्रतीकमयी अभिव्यंजना प्रदान करने के कारण 'पद्मावत' का अध्यात्म-दर्शन अत्यन्त मधुर तथा बोधगम्य हो गया है । उसकी आध्यात्मिक विचारधारा में अथ से इति तक रागात्मक तत्त्वों का सुन्दर सन्निहन हुआ है । यही कारण है कि उससे अध्येता की मनसा पूर्णतः प्रभावित होती है । पाठक के आध्यात्मिक विचारों को पुष्टि प्रदान करने के साथ-साथ वह उसके अन्तस् को भी रसमग्न करने की क्षमता से युक्त है ।

'पद्मावत' में सामान्य जनों के हितार्थ अनेक प्रकार की आध्यात्मिक सूक्तियों का कथन हुआ है । उदाहरणार्थ 'पद्मावत' के 'जोगी खंड' से उद्धृत अधोलिखित दोहा देखिए :—

का निचिंत रे मानुस, आपन चीते आहु ।
लेहि सजग होइ अगमनु, मन पछिताव न पाहु ॥

सूफी-दर्शन में गुरु को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । जब तक गुरू साधक का पथ-प्रदर्शन नहीं करता तब तक उसकी साधना, चाहे वह कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, परम लक्ष्य को प्राप्त कराने में कदापि समर्थ नहीं हो सकती । गुरू ही वह दिव्यदर्शिनी शक्ति है जो आत्मा के रुद्ध कपाटों को खोलकर मानव के अन्तस् में ज्ञान का आलोक विकीर्ण करती है । तदुपरान्त व्यक्ति के लिए विश्व के भौतिक वैभव में कोई विशेष आकर्षण शेष नहीं रहता और उसकी आत्मा का प्रत्येक कण अपने

उद्गम स्थल में लीन होने के लिए विह्वल हो उठता है । यह सब कार्य केवल गुरू के सहयोग से ही सम्भव हो पाता है । अतः 'पद्मावत' में अनेक स्थलों पर साधना के मार्ग में गुरू के महत्व का प्रतिपादन किया गया है । उदाहरणार्थ उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

बिनु गुरु पंथ न पाइय, भूलै सो जो मेट ।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट ।।

जायसी अपने इष्टदेव के प्रेम में इतने लीन हो जाते हैं कि शनैः-शनैः विश्व का अस्तित्व ही उनके लिए विलुप्त होने लगता है । बाह्य चक्षुओं के समक्ष दृष्टिगोचर होने वाला समस्त कार्य-व्यापार उन्हें मिथ्या प्रतीत होने लगता है और उनके लिए समस्त भौतिक उपकरण अपना महत्व नष्ट कर बैठते हैं । उनका यह अक्षुण्ण विश्वास है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है और बाह्य जगत् में दृष्टिगोचर होने वाले समस्त पदार्थ तथा जीव केवल उसकी छाया-मात्र हैं । उनके अनुसार वे सब उस एक तत्व के ही विभिन्न रूप हैं और सभी की आत्मा में उसका समावेश है । यही कारण है कि न केवल पदार्थ तथा जीव, प्रत्युत विश्व के समस्त कार्य व्यापार भी अपने मूल रूप में ईश्वर ही हैं और उनका प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होने वाला स्वरूप अपने में पूर्णतः अवास्तविक है । इस विचारधारा को जायसी ने 'पद्मावत' में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आपु करै जो चाहे, कहाँ सो दूसर कोइ ?

यद्यपि 'पद्मावत' में लौकिक कथा को प्रश्रय प्रदान किया गया है, तथापि जायसी का प्रमुख उद्देश्य उसके द्वारा अलौकिक प्रेम को अभिव्यक्त करना ही रहा है । यही कारण है कि लौकिक दृश्यों का चित्रण करते-करते सहसा उनका ध्यान अलौकिकता की ओर उन्मुख होने लगता है और वह उसी की अभिव्यंजना में प्रवृत्त हो जाते हैं । इसका यह तात्पर्य

कदापि नहीं है कि उन्हें प्राय: अपना लक्ष्य विस्मृत हो जाता है और वह केवल कतिपय स्थलों पर ही उसका ध्यान रख पाते हैं। यद्यपि उन्होंने 'पद्मावत' में अपने लक्ष्य का वर्णन प्रत्यक्ष रूप में केवल कहीं-कहीं ही किया है, तथापि वह परोक्षत: एक क्षण के लिए भी उनके दृष्टिपथ से ओझल नहीं हुआ है। उन्हें यह ध्यान अथ से इति तक बना रहा है कि वह लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक तथा सूक्ष्म प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। 'पद्मावत' का अध्ययन करते समय अध्येता को सदैव उपर्युक्त तथ्य का स्मरण रखना चाहिए अन्यथा वह काव्य की मूल भावना का परिग्रहण करने में कदापि सफल नहीं हो सकता। तथापि कतिपय स्थलों पर जायसी ने लौकिक वर्णन के साथ-साथ उसके सूक्ष्म अंश का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। उदाहरणार्थ उन्होंने निम्नलिखित आध्यात्मिक रूपक में पार्थिव तथा अपार्थिव की एक साथ व्यंजना उपस्थित की है:—

सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम-समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ-लेइ उठहिं सो बुंद॥

'पद्मावत' के अध्यात्म-दर्शन में सूफी-साधना के अतिरिक्त हठयोग के तत्त्वों का भी सन्निहन हुआ है। जिस युग में मलिक मुहम्मद जायसी का आविर्भाव हुआ उस समय उनके चतुर्दिक् वातावरण में हठयोग के सिद्धान्त पूर्णत: समाविष्ट थे। यही कारण है कि उनके पूर्ववर्ती कवि महात्मा कबीर के काव्य पर भी उसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। जायसी के युग में यह प्रभाव कुछ शिथिल हो चुका था। यही कारण है कि वह उससे कबीर की अपेक्षा कुछ कम प्रभावित रहे हैं। फिर भी इतना तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि उन्हें हठयोग की विविध क्रियाओं का पर्याप्त ज्ञान था। 'पद्मावत' के अनेक छन्द इसके प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे उसका निम्नलिखित उद्धरण देखिए :—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥

नव पौरी पर दसँव दुवारा। तेहि पर बाज राज-घरियारा ।।
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी ।।
जबहीं घरी पूजि तेहिं मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा ।।

यहाँ पर कवि ने हठयोग की क्रियाओं का सूक्ष्म वर्णन किया है। इससे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जायसी की आध्यात्मिक विचार-धारा हठयोग के सिद्धान्तों से पर्याप्ततः प्रभावित रही है। इसके अतिरिक्त 'पद्मावत' में कतिपय प्रसंग ऐसे भी हैं जहाँ हठयोग की साधना से सम्बन्धित उपकरणों का उल्लेख-मात्र किया गया है। जिस समय राजा रत्नसेन पद्मावती की कथा का श्रवण करता है, उस समय वह अत्यधिक प्रेम विह्वल हो उठता है और अपने राजसी प्रेम का परित्याग कर योगी का वेष धारण कर लेता है। उक्त अवसर पर उसकी तत्कालीन वेष-भूषा का सांगोपांग वर्णन करते हुए जायसी ने हठयोग के उपकरणों का विस्तृत उल्लेख किया है। यथा :—

'मेखल सिंघी, चक्र धँधारी।
जोगबाट, रुदराछ, अधारी ।।

कथा पहिरि दंड कर गहा।
सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ।।

मुद्रा स्रवन, कंठ जप माला।
कर उपदान, कांध बघछाला ।।

पाँवरि पाँव, दीन्ह सिर छाता।
खप्पर लीन्ह भेस करि राता ।।

इस प्रकार हमने देखा कि 'पद्मावत' के अध्यात्म-दर्शन में सूफी-दर्शन के साथ-साथ हठयोग की साधना-प्रणाली का भी सन्निहन हुआ है।

इतना होते हुए भी इसमें सूफी विचार-धारा के तत्वों का प्राधान्य है और हठयोग का परिग्रहण केवल कतिपय स्थलों पर ही किया गया है। वस्तुतः एक सूफी कवि होने के नाते जायसी के काव्य में ऐसा होना स्वाभाविक भी था। सूफी-सिद्धान्तों में विश्वास रखने के कारण ही जायसी ने 'पद्मावत' में आत्मा को पति तथा परमात्मा को पत्नी के रूप में चित्रित किया है। इस प्रकार 'पद्मावत' की आध्यात्मिक विचारधारा स्पष्टतः लौकिक कथा पर आधृत होकर प्रवाहित हुई है।

८. 'सूरसागर' की कलात्मकता

जिस समय कवि की आत्मा विश्व की विभिन्न अनुभूतियों से परिवेष्टित होकर शब्दों का आधार ग्रहण कर अपने स्वरूप का उद्घाटन करने लगती है तब उसी अभिव्यंजना को 'कला' कहते हैं। कलाकार द्वारा अपने मन की सहानुभूति के व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त उपकरण ही कला के प्रमुख तत्व हैं। अतः सूर के काव्य के कला-पक्ष की चर्चा करते समय हम इन्हीं सौन्दर्यात्मक उपकरणों का आधार ग्रहण करेंगे।

महात्मा सूरदास ने अपने काव्य की रचना मुक्तक पदों के रूप में की है और 'सूरसागर' के रूप में उनका बृहत् संकलन हुआ है। उन्होंने अपने पदों की रचना ब्रज भाषा में की है। और अपनी समर्थ काव्य-शक्ति के आधार पर ब्रज-भाषा-काव्य के उस प्रारम्भिक युग में ही अपने पदों में भाषा और शैली का प्रशंसनीय रीति से सहज संयोजन किया है। उन्होंने सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिए अपने काव्य में कला-वैभव का आवश्यकतानुसार उपयोग किया है। आगे हम उनके काव्य में प्राप्त होने वाले भाषा, शैली, अलंकार और छन्द आदि विभिन्न कला तत्वों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) भाषा:—

सूर से पूर्व ब्रज भाषा की स्थिति अवश्य थी, किन्तु तब तक उसका उपयुक्त विकास न हो पाया था। कबीर और उनके अनुयायियों (धर्मदास, नानक आदि) ने उसे प्रोत्साहन तो दिया था, किन्तु संस्कार द्वारा उसमें माधुर्य का संचार करने का प्रयत्न उन्होंने सम्भवतः बिलकुल नहीं किया था। सूर ने ब्रज भाषा के इस गत्यवरोध को समाप्त कर उसमें सर्वप्रथम माधुर्य का संचार किया। ब्रजभाषा को व्यवस्थित और एकरूप कर उन्होंने

उसके लिए एक निश्चित परम्परा का निर्माण कर दिया, जिसका उनके सभी परवर्ती कवियों पर प्रभाव पड़ा। वस्तुतः ब्रज के जनपदों से संकलित होने के कारण उनकी कोमल कान्त पदावली अपने साथ एक निश्चित प्रवाह लिए हुए है। शब्द-चयन करते समय उन्होंने ब्रज भाषा के अतिरिक्त संस्कृत अरबी, फारसी और कतिपय प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया है और उन्हें अपनी काव्य-भाषा में नितान्त स्वाभाविक रीति से पचा लिया है। वास्तव में वह अपनी दृष्टि को भाषा की अपेक्षा भाव सौष्ठव पर अधिक केन्द्रित रखते थे और उनका विश्वास था कि भावों के श्रेष्ठ संयोजन से काव्य की भाषा और शैली का स्वतः उचित परिष्कार हो जाएगा। यही कारण है कि उनके काव्य में प्रायः भाषा और भाव, दोनों का ही सर्वत्र स्वाभाविक विकास दृष्टिगत होता है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य में हमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) संस्कृत के तत्सम शब्द—संधान, वह्नि, मम, कला आदि।

(२) संस्कृत के अर्द्ध स्वर (ऽ) का प्रयोग—

मानऽपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो।

(३) तद्भव शब्द—आखर, बिज्जु, रूख, राकस, सकात आदि।

(४) अर्द्ध तत्सम शब्द—स्वारथ, सुरूप, तीरथ, जनम, स्वान आदि।

(५) देशज शब्द—गहरु, नौआ, मोट, सँघाती, सौंज आदि।

(६) शाब्दिक अंग अंग—समर (स्मर), दौन (दमन), सुरद (सुहृद) आदि।

(७) सहयोगी शब्द—ऊधो ! मन नाहीं दस-बीस।

(८) विदेशी शब्दः—

(अ) फारसी भाषा के शब्द—सरकार, दरजी आदि।

(ब) अरबी भाषा के शब्द—नफा, दगा, लायक आदि।

(ज) द्विज अथवा मिश्रित शब्द—लौनहरामी, फौजपति आदि।

(९) प्रान्तीय शब्द :——

(अ) अवधी भाषा के शब्द——मोर, तोर आदि।

(ब) गुजराती भाषा के शब्द——पेला, ढोरी, वियो आदि।

(ज) बुन्देल खण्डी भाषा के शब्द——गह्बी, सहिबि, झहरना आदि।

(स) पंजाबी भाषा के शब्द——प्यारी (महँगी वस्तु के अर्थ में)

सूर की भाषा में माधुर्य गुण का विशेष समावेश हुआ है और प्रसाद गुण भी प्रायः इसकी सन्निधि में वर्तमान रहा है। उनके काव्य में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है। प्रायः उनके वात्सल्य रस और शान्त रस-सम्बन्धी पदों में अभिधा शक्ति का अतिरेक रहा है। इसी प्रकार वात्सल्य रस के माखन-चोरी-विषयक प्रसंग और श्रृंगार रस से सम्बद्ध भ्रमरगीत-प्रकरण में लक्षणा तथा व्यंजना नामक शक्तियों का विशेष समावेश हुआ है।

भाषा को सजीवता प्रदान करने के लिए सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी यथा-स्थान प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरे व्यंजना पर आधृत रहे हैं और सत्य की ओर उन्मुख होने के कारण लोकोक्तियाँ अनुभव पर आधारित रही हैं। आगे हम क्रमशः इन दोनों के उदाहरण उपस्थित करते हैं :——

(१) तिनका तोर करौ जनि हम सों एक बारु की लज्जा गहियो।
('तिनका तोड़ करना' मुहावरा)

(२) स्वान-पूंछ कोटिक जो लागै सूधि न काहू करी।
(लोकोक्ति)

सूर की भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी रही है। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने कृष्ण-कथा का वर्णनात्मक आख्यान किया है वहाँ वह अपनी भाषा को विशेष प्रवाह से युक्त न कर सके। इसी कारण भक्ति भावना का प्रतिपादन करते समय उन्होंने अपनी तीव्र आत्मानुभूति से भाषा को विशेष सहज और प्रभावोत्पादक बना दिया है। श्रृंगार और वात्सल्य नामक

रसों का संयोजन करते समय भी उन्होंने सम्बद्ध भावों के अनुकूल अपनी भाषा को विशेष मधुर बना लिया है।

(२) शैली:—

सूर ने अपने काव्य में चित्र-शैली का व्यापक आधार ग्रहण किया है। उन्होंने चित्र-सृष्टि की संश्लिष्ट और विश्लिष्ट, दोनों प्रणालियों को ग्रहण करते हुए संश्लिष्ट चित्रों में वातावरण के सूक्ष्म और समष्टिगत चित्र अंकित किये हैं। तथा विश्लिष्ट चित्रों में परिस्थिति का विश्लेषणात्मक रूप चित्रित किया है। वास्तव में उन्होंने अपने अधिकांश भावों को सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से उनके काव्य में मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार के सौन्दर्य-चित्र उपलब्ध होते हैं :—

(१) नर-सौन्दर्य के प्रतीक श्रीकृष्ण की बाल-छवि और यौवन-छवि से सम्बद्ध चित्र।

(२) नारी-सौन्दर्य की प्रतीक राधा और विभिन्न गोपिकाओं के शरीर-सौन्दर्य तथा भाव-सम्बन्धी चित्र।

(३) पुत्र-स्नेह से आप्लावित यशोदा और नन्द के भावावेश-विषयक चित्र।

(४) ब्रह्मयोगी ऊद्धव के शुष्क व्यक्तित्व और उसके उपहास-सम्बन्धी चित्र।

(५) प्राकृतिक छवि और आध्यात्मिक अनुभूति से सम्बद्ध चित्र।

सूर ने अपनी मनोहारिणी शैली द्वारा इन सभी भावों को उत्कृष्ट चित्रात्मक रूप में उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में गौ वंश की शोचनीय अवस्था से सम्बद्ध निम्नलिखित संश्लिष्ट चित्र देखिए:—

ऊधो ! इतनी कहियो जाय !
अति कृसगात भइ हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नाँव ।

जहाँ-जहाँ गो दोहन करते, ढूंढति सोइ सोइ ठाँव ।।

सूर ने अपने काव्य की रचना प्रगीत शैली अथवा मुक्तक गेय पदों के रूप में की है। उन्होंने भाषा के कोमल-कान्त पद-विन्यास और शैली के ललित, गतिबद्ध प्रवाह द्वारा इन गेय पदों में भावों के साथ-साथ कला का भी अपूर्व सामंजस्य उपस्थित किया है। अपने प्रगीत काव्य में उन्होंने वात्सल्य और शृंगार नामक तीनों रसों से सम्बद्ध भावों को मधुर रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने अपने पदों में संगीत की मादक स्वर-लहरी के माध्यम से आत्मगत भावनाओं को सरल-स्निग्ध अभिव्यक्ति प्रदान की है। रास एवं मुरली के प्रसंग में भी उन्होंने प्रगीत शैली का मनोरम प्रयोग किया है। आगे हम आत्माभिव्यक्ति से पूर्ण उनकी निम्नलिखित गेय पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :—

छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धि उपजै, परत भजन में भंग ।।

———राग सारंग

महाकवि सूरदास ने संस्कृत और हिन्दी की परम्परागत दृष्टकूट पद-शैली को भी अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है। उनका साहित्य-लहरी' नामक ग्रन्थ इसी शैली में लिखित है। उसके अतिरिक्त उन्होंने 'सूर सागर' के कतिपय स्वतन्त्र पदों में भी इस शैली का समावेश किया है। इस शैली में सरलता के स्थान पर चमत्कार और दुरूहता को मुख्य स्थान प्राप्त रहता है और सूर के दृष्टकूट पद भी सर्वत्र इसी चमत्कार और रहस्य से परिपूर्ण रहे हैं। दुरूह होने के कारण इस प्रकार के पदों का काव्यत्व की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं होता है और सूर के काव्य में भी इन पदों को प्रतिनिधि स्थान प्राप्त नहीं है। यद्यपि सूर ने इस शैली को विशेष रूप से राधा-कृष्ण की संयोग-मुद्राओं का चित्रण करते समय ग्रहण किया है तथापि भ्रमरगीत-प्रकरण के कुछ विरह-सम्बन्धी पदों में भी इस शैली का समावेश हुआ है। यथा:—

कहत किन परदेसी की बात ।
मन्दिर अरध हरि बदि गये, हरि अहार चलि जात ।।

मार्मिक अनुभूति से ओतप्रोत गेय पदों के अतिरिक्त सूर ने विभिन्न पौराणिक आख्यानों और कृष्ण-लीलाओं को ले कर वर्णनात्मक शैली में भी कुछ पदों की रचना की है। इस प्रकार के पदों में स्वभावतः ही किसी विशिष्ट काव्य-सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते और कवि ने प्रायः वस्तु-व्यापार परिगणन द्वारा ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझ ली है। प्रगीत शैली से विहीन होने के कारण भी उनके वर्णनात्मक पदों में विशेष आकर्षण की स्थिति नहीं रही है, तथापि कवि ने छन्द-वैविध्य द्वारा इस अभाव की कुछ अंशों तक पूर्ति करने का प्रयास किया है। 'सूरसागर' में कवि ने कृष्ण-जन्मोत्सव, कालिय-दमन, गोवर्द्धन-लीला और हिण्डोल-लीला आदि का वर्णन करते समय इसी वर्णनात्मक शैली को ग्रहण किया है।

उपर्युक्त प्रमुख शैलियों के अतिरिक्त सूर ने अपने काव्य में यथा-स्थान संलाप-शैली, संबोधन-शैली, उद्बोधन-शैली, व्यंग्य-शैली और उपालम्भ-शैली को भी ग्रहण किया है। संलाप-शैली-सम्बन्धी पदों में उन्होंने विभिन्न पात्रों के सम्वादों को स्थान प्रदान किया है। सम्बोधन-शैली के अन्तर्गत उन्होंने किसी एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को सम्बोधित कराकर मार्मिक वचनों की अभिव्यक्ति कराई है। उद्बोद्धन-शैली के दर्शन मुख्य रूप से उनके विनय-सम्बन्धी पदों में होते हैं। व्यंग्य-शैली को उद्धव-गोपी- सम्वाद में मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और कवि ने गोपियों द्वारा उद्धव के प्रति अनेक व्यंग्य-तिक्त वचनों की अभिव्यक्ति कराई है। उपालम्भ-शैली-विषयक पदों में यशोदा द्वारा नन्द को दिये गये उपालम्भ और गोपियों द्वारा कृष्ण को दिये गये उपालम्भ का समावेश हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर ने अपने काव्य में विभिन्न काव्य-शैलियों का रम्य उपयोग किया है ।

(३) अलंकार प्रयोग:—

सूर ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज प्रयोग करते हुए उनके द्वारा अपने भावों को प्रायः उत्कर्ष प्रदान किया है। उन्होंने भाषा-शैली को सज्जित करने के लिए अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति नामक शब्दालंकारों का विशेष प्रयोग किया है। तथापि उनके पदों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक स्थान प्राप्त हुआ है और उन्होंने भाव-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक तथा अतिशयोक्ति आदि विभिन्न अर्थालंकारों का सफल प्रयोग किया है। यद्यपि अलंकार-प्रयोग उनका साध्य नहीं रहा है तथापि उनके काव्य में विविध अलंकारों का स्वतः ही सहज समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में 'सांग रूपक' नामक अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखिए:—

काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत, निन्दा-शब्द रसाल ॥

(४) **छन्द-प्रयोग:—**

यद्यपि यह सत्य है कि सूर ने अपने काव्य की रचना गेय पदों के रूप में की है और उनके पदों में विभिन्न राग-रागिनियों को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है तथापि उन्होंने यत्र-तत्र छन्दों का भी उपयोग किया है। इस दृष्टि से उनके वर्णनात्मक शैली में लिखित पदों में दोहा, रोला, चौपाई, नामक छन्दों का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पदों के अतिरिक्त सूर के कतिपय अन्य पदों में भी तोमर, राधिका, सरसी, सार, गीतिका, हरिगीतिका, विधाता एवं झूलना आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। वास्तव में इन छन्दों का समावेश प्रायः संगीत की स्वाभाविक लय के फलस्वरूप पदों में यत्र-तत्र ही हुआ है और सूर ने इनका स्वतन्त्र आधार ग्रहण नहीं किया है। इसी कारण कहीं-कहीं एक ही पद में दो या तीन छन्दों का भी समावेश हो गया है जो काव्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं हैं तथापि सूर के काव्य का

विश्लेषण छन्द की दृष्टि से न कर राग-रागिनियों की दृष्टि से करना चाहिए और इस दृष्टि से वह पूर्णतः सफल रहे हैं :

सूर ने अपने काव्य में गति-तत्व पर विशेष ध्यान दिया है। चरणान्त में तुक का पालन करने के साथ-साथ उन्होंने अनेक पदों में आन्तरिक तुक-साम्य का भी निर्वाह किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्ति देखिए :—

फाटक दै कर हाटक माँगत,
भोरी निपट सुधारी ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर ने अपने काव्य की रचना सरस गेय पदों के रूप में की है और कोमल-कान्त पदावली से युक्त सहज-मधुर ब्रजभाषा के प्रयोग द्वारा अपने भावों को विविध शैलियों के माध्यम से आकर्षक रूप में अभिव्यक्त किया है। शब्दों के विविधतामय प्रयोग, चित्र-सृष्टि, विविध राग-रागिनियों के आयोजन, अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग और वर्णनात्मक प्रकरणों में छन्द-योजना द्वारा उन्होंने अपने काव्य के कला-पक्ष का पूर्ण संस्कार किया है। उन्होंने श्री कृष्ण की विविध लीलाओं का गान करते हुए अपनी भाषा में मुरली की मादकता का समन्वय कर दिया है। इसी कारण उनके काव्य के प्रभाव को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है:—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद सुन्यौ, तन-मन धुनत सरीर ॥

रचना की है। वह संगीत कला के मर्मज्ञ थे और उन्होंने गीतिकाव्य के स्थूल तत्वों का अत्यन्त श्रेष्ठ आधार पर नियोजन किया है। उन्होंने अपने गेय पदों की रचना राग-रागिनियों के माध्यम से की है। और स्वर-ताल का सामंजस्य स्थापित रखने का पूर्ण ध्यान रखा है। अपने भावों को राग के बन्धन में आबद्ध करते समय उन्होंने भाव-सृष्टि को राग के अनुरूप ही उपस्थित करने का प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट है कि संगीत-शास्त्र में उनकी सूक्ष्म गति थी।

तुलसी ने शब्द-प्रयोग की दृष्टि से अपने गीति-काव्य में संस्कृत की कोमल कान्त पदावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस कारण उनके पदों में गीति-तत्व का विशेष विकास उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन,
हरन भव भय दारुनं।
नव कंज लोचन कंज मुख
कर कंज पद कंजारुनं।

इसी प्रकार उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में सम्बोधन-शैली, स्तुति-शैली, और उद्बोधन-शैली के प्रयोग द्वारा अपने गीति-काव्य को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है।

यद्यपि यह सत्य है कि 'विनय पत्रिका' के कुछ पदों में पिंगल शास्त्र की दृष्टि से यति-भंग दोष की स्थिति रही है, तथापि तुलसी का उद्देश्य 'विनय-पत्रिका' को छन्दोबद्ध रचना के रूप में उपस्थित करना न था। वह उसे संगीत की दृष्टि से प्रवाहपूर्ण रूप में उपस्थित करना चाहते थे और इस दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि यति-भंग दोष से युक्त पदों में गायन के समय गति-तत्व की दृष्टि से कोई अभाव प्रतीत नहीं होता।

शुक्ल जी ने तुलसी के काव्य में लोकपक्ष की अधिकता का प्रतिपादन करते हुए उसमें वैयक्तिकता के समावेश के लिए अल्प स्थान माना है। इस कारण वह तुलसी के काव्य में प्रगीतात्मकता की अधिकता नहीं मानते, किन्तु वास्तव में तुलसी ने लोक-मर्यादा के रक्षण के साथ-साथ अपने काव्य में निजीपन का भी समावेश किया है और उनके गेय पदों में हमें आत्म-कथन की प्रणाली प्राप्त होती है। यथाः—

अब लौं नसानी अब ना नसैहों।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहों॥
पाया नाम चारु चिन्तामनि उर-कर ते न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहों॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हंसैहों।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहों॥

गीतिकाव्य में प्रभाव की तीव्रता के लिए मार्मिक भावनाओं की संक्षिप्त अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्रदान किया जाता है। कविवर तुलसी ने अपने पदोंको प्रायः संक्षिप्त ही रखा है तथापि उनके कुछ पदों में वर्णनात्मकता के कारण अति विस्तार की प्रवृत्ति का भी समावेश हो गया है। वैसे उनके काव्य में प्रगीत काव्य का स्वाभाविक स्वरूप उपलब्ध होता है और उन्होंने भक्त के हृदय के शुद्ध रूप का श्रेष्ठ उद्‌भावन किया है। 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भ में ही "गाइये गनपति जग वन्दन" कहकर उन्होंने संगीत-रुचि और भक्त के उल्लास का उत्कृष्ट परिचय दिया है।

तुलसी ने अपने गीति-काव्य की रचना करते समय रामभक्ति को मूल विषय बनाया है। उन्होंने राम के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए सूर के समान अपने इष्टदेव के महत्व का गान किया है। राम-भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने गणेश, शिव, हनुमान, और गंगा आदि अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी अपनी भक्ति-भावना को गेय रूप में उपस्थित किया है तथा

अन्त में इन सभी से राम-भक्ति के वरदान की याचना की है। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों को भी गेय पदों के रूप में सरल अभिव्यक्ति प्रदान की है । इसी प्रकार उन्होंने विविध पौराणिक प्रसिद्धियों का आधार ग्रहण कर अपने गीति-काव्य में दास्य-भावना को स्पष्ट करने के लिए यथास्थान पौराणिक संकेत भी उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु,
करम, बचन अरु ही ते ।
सहस बाहु दस बदन आदि नृप,
बचे न काल बली ते ॥

तुलसी ने अपने गीति काव्य में शान्त रस की अभिव्यक्ति को प्रमुख स्थान प्रदान किया है । उन्होंने अनुभूति और भावना के तीव्र संयोजन द्वारा अपने गीति-काव्य को पूर्णतः समृद्ध रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने आत्मा को उद्बोधन प्रदान करने वाले अनेक भक्ति पूर्ण पदों की रचना की है। भक्त होने के कारण उनके गेय काव्य में दैन्य, आत्म-समर्पण, आशा, उत्साह, अनुताप और आत्म ग्लानि आदि विविध भावों का भी रमणीय संयोजन हुआ है। उन्होंने नवधा भक्ति के दास्य भक्ति वाले पक्ष को ग्रहण करते हुए 'विनय-पत्रिका' में उसको नितान्त प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है। उनके दास्य भक्ति सम्बन्धी गेय पदों में सेवक-सेव्य भाव को मार्मिक स्थिति रही है। साथ ही उन्होंने इन पदों में अपने दैन्य का भी स्पष्ट उद्घाटन किया है। आगे हम क्रमशः इन दोनों के उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

(१) सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।
हरि पद बिमुख लह्यो न काहु सुख,
सठ ! यह समुझ सबेरो ॥

(२) तू दयाल, दीन हौं, तू दानी, हौं भिखारी ॥

तुलसी के गीतिकाव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पदों में आत्मा की निश्छल अभिव्यक्ति और शान्त रस की पूर्ण प्रतिपत्ति का उत्कृष्ट ध्यान रखा गया है। उन्होंने अपने पदों में प्रगीत काव्य के विभिन्न तत्वों का सुन्दर समाहार उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने सूर के समान गेय पदों की विस्तृत रचना नहीं की है, तथापि हिन्दी में गीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने पदों की रचना केवल साहित्य-प्रेमियों के लिए ही नहीं की है, अपितु उनमें भक्तों को भक्ति की प्रेरणा प्रदान करने का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि संगीत के माध्यम से भक्ति का आन्तरिक स्पर्श करने का प्रयत्न करने वालों के लिए तुलसी के गेय पदों का अपार महत्व है। इन पदों में सर्वत्र एक ऐसे अमिट प्रभाव का समावेश हुआ है जो पाठक को बारम्बार अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

११. सूर सूर तुलसी ससी

भक्ति काल में सगुण भक्ति के सुन्दर काव्यमय प्रतिपादन के कारण सूर और तुलसी, दोनों का ही अनन्य महत्व है। महात्मा सूरदास ने भगवान् श्री कृष्ण की विविध लीलाओं को गीति-काव्य के माध्यम से नितान्त मधुर रूप में उपस्थित किया है और गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् राम के आदर्श चरित्र को प्रबन्ध तथा मुक्तक नामक दोनों ही काव्य-शैलियों के माध्यम से निरूपित किया है। उपास्य के चित्रण के कारण इन दोनों कवियों की तुलनात्मक समीक्षा करते समय इनमें से किसी एक को शीर्ष स्थान प्रदान करना सहसा कठिन प्रतीत होता है। यदि माधुर्य को श्रेष्ठता का मान-दण्ड मानकर 'सूर सूर तुलसी ससि' नामक प्रचलित उक्ति की समीक्षा की जाये तो निश्चय ही सूर का स्थान तुलसी की अपेक्षा ऊँचा है, किन्तु यदि मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के निरूपण के आधार पर उक्त कथन की विवेचना की जाय तो तुलसी का स्थान सूर की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरता है।

सूर एवं तुलसी के काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों ही कवियों ने अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि सूर ने काव्य के इन दोनों ही पक्षों का सीमित क्षेत्र में प्रयोग किया है, किन्तु इस परिधि के अन्तर्गत ही उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है और उनके वात्सल्य-वर्णन से तुलसी के वात्सल्य-वर्णन की तुलना करने पर हम तुलसी के तत्सम्बन्धी काव्य को लगभग श्रीहीन ही पाते हैं। तुलसी के काव्य में इसके विपरीत जीवन की व्यापकता को ग्रहण किया गया

है और इस व्यापक प्रतिपादन की सूर के काव्य की सीमाबद्धता से तुलना करने पर तुलसी का काव्य ही अधिक गौरवशाली प्रतीत होता है। आगे हम इन दोनों के काव्य की भावनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

सूर ने अपने काव्य में वात्सल्य, शृंगार और शान्त नामक रसों का विशेष प्रयोग करते हुए अन्य रसों को नितान्त अल्प स्थान प्रदान किया है, किन्तु महाकवि तुलसीदास ने प्रबन्ध-काव्य की रचना करने के कारण सभी रसों का यथास्थान प्रयोग किया है। अतः यदि हम इस विस्तार की दृष्टि से इन दोनों कवियों की समीक्षा करें तो समष्टि रूप में तुलसी का स्थान ही अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है, किन्तु विभिन्न रसों की पृथक्-पृथक् योजना को लक्ष्य में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने अन्य रसों का प्रयोग न करने पर भी वात्सल्य, शृंगार, और शान्त का नितान्त मनोहारी चित्रण किया है।

वात्सल्य रस के क्षेत्र में सूर ने बालकृष्ण की रूप-छवि और उनकी विविध लीलाओं का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने बाल-स्वभाव के अनुसार कृष्ण की मनोहारिणी चेष्टाओं का चित्र-शैली से विधिवत् अंकन किया है। वास्तव में बालक के भाव-विकास का इतना सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक अध्ययन उनके अतिरिक्त अन्य कोई उपस्थित न कर सका है। इसके विपरीत तुलसीदास ने भगवान् राम के बाल-रूप का वर्णन करते समय मर्यादा-भाव के आग्रह के कारण उस सरसता और चंचलता का प्रायः बहुत कम परिचय दिया है जो सूर के तत्सम्बन्धी वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध होती है।

शृंगार रस के क्षेत्र में सूर और तुलसी, दोनों ने ही अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। तथापि मर्यादा भाव के आग्रह के कारण तुलसी शृंगार रस की उतनी सरस योजना न कर सके हैं, जितनी सूर ने 'सूर-सागर' में अनेक स्थलों पर की है। सूर के शृंगार-चित्रों का सम्बन्ध राधा और कृष्ण की विविध प्रेममयी चेष्टाओं से है तथा गोपियों के विरह-भाव का मार्मिक

अंकन करते हुए उन्होंने श्रृंगार रस को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। संयोग श्रृंगार की दृष्टि से उन्होंने नायिका-भेद, रास एवं मुरली के प्रसंगों को भी ग्रहण किया है और विप्रलंभ श्रृंगार के अन्तर्गत 'भ्रमर-गीत' प्रकरण में विरह की सभी दशाओं का चित्रण किया है। तुलसी ने संयोग श्रृंगार को संयम में आबद्ध करने की चेष्टा करते हुए राम और सीता की प्रेम-विषयक विभिन्न मनोदशाओं का उतना विस्तृत वर्णन नहीं किया है, जितना सूर ने स्थान-स्थान पर आयोजित किया है। विप्रलम्भ श्रृंगार की दृष्टि से भी तुलसी ने सीता के विरह-निवेदन में दास्य भावना को समाविष्ट कर उसमें सूर की गोपियों के मार्मिक आत्म-निवेदन का संचार नहीं किया है। इसका कारण यही है कि तुलसी शिष्टाचार के आग्रह के कारण सीता को अधिक विरह-विदग्धा नहीं दिखा सकते थे तथापि उन्होंने राम की विरह-वेदना का सुन्दर चित्रण किया है।

शान्त रस का प्रतिपादन करने में सूर और तुलसी, दोनों को ही सफलता प्राप्त हुई है। शान्त रस का सम्बन्ध भक्ति-भावना से है और इस दृष्टि से सूर की सख्य भाव की भक्ति तथा तुलसी की दास्य भाव की भक्ति, दोनों ही अतुलनीय हैं।

इन रसों के अतिरिक्त तुलसी के 'राम चरित मानस' में अन्य रसों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। सूर का काव्य इस रस-वैविध्य से वंचित है। अतः रस-प्रयोग के क्षेत्र में तुलसी ही सूर से श्रेष्ठ हैं।

भक्ति-भावनाः—सूर और तुलसी ने भक्ति काल की निर्गुण-भक्ति-परम्परा का विरोध करते हुए सगुण भक्ति का प्रतिपादन किया है। सूर ने भगवान् कृष्ण के प्रति सख्य भावमयी भक्ति को विशेष रूप से व्यक्त किया है तथापि उनके कुछ पदों में विनय-भावना भी उपलब्ध होती है। उनके भक्ति-प्रतिपादन में शान्ति, सन्तोष तथा उल्लास आदि विविध सात्विक गुणों की पूर्ण अन्तर्व्याप्ति रही है। तुलसी ने दास्य भाव की भक्ति

को ग्रहण करते हुए आत्म निवेदन पर विशेष ध्यान दिया है। उनके भक्ति विषयक पदों में भावनाओं की श्रद्धामूलक स्वच्छ अभिव्यक्ति हुई है और उन्होंने सर्वत्र श्रेयात्मक विचार धारा को उपस्थित किया है। भक्ति के क्षेत्र में भी तुलसी का स्थान सूर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। यद्यपि यह सत्य है कि सूर की सख्य भाव की भक्ति अतुलनीय है और उनके विनय-सम्बन्धी पद भी आत्म-निवेदन से परिपूर्ण हैं तथापि उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी उपास्य के प्रति अनुराग का प्रदर्शन न करते हुए

"और देव सब रंक भिखारी
त्यागे बहुत अनेरे।"

कहकर जिस संकुचित भक्ति-भावना का परिचय दिया है, उसका तुलसी में नितान्त अभाव है और तुलसी ने अपनी 'विनय-पत्रिका' में भक्ति-विषयक सहृदयता का पूर्ण परिचय दिया है।

सूर ने सगुणोपासना के अतिरेक में अपने 'भ्रमर-गीत' में गोपियों द्वारा निर्गुण उपासना का उपहास कराया है, तुलसी ने इसके विपरीत संयम से काम लिया है।

चरित्र-चित्रण:—सूर ने अपने काव्य में श्रीकृष्ण, उद्धव, नन्द, यशोदा, राधा और विभिन्न गोपिकाओं के चरित्रों को माधुर्य-समन्वित रूप में उपस्थित किया है। उनके चरित्रों में विविधता और वाग्विविदग्धता का प्रचुर समावेश हुआ है तथा गोपियों का चरित्र इस दृष्टि से विशेष सजीव बन पड़ा है। तुलसी ने अपने काव्य में राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, दशरथ, कौशल्या, और उनसे सम्बद्ध अनेक पात्रों को काव्यगत अभि-व्यक्ति प्रदान की है। उनके पात्रों में राम के प्रति प्रायः एक विशेष भक्ति-भाव का समन्वय रहा है और रावण जैसे पात्र भी अन्ततः अपनी विरोधी भावनाओं के कारण राम के समक्ष पराजित होते हुए दिखाये गये हैं। सूर और तुलसी के चरित्र-चित्रण की तुलनात्मक समीक्षा करने पर हम

इन दोनों ही कवियों को सफल पाते हैं, किन्तु सूर की अपेक्षा अधिक पात्रों के संयोजन के कारण इस क्षेत्र में भी तुलसी को ही अग्रणी कहा जायेगा।

दार्शनिक विचार:—सूर ने अपने काव्य में महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल जीव, ब्रह्म और माया आदि के विषय में अपने विचारों को उपस्थित किया है। उनके दार्शनिक विचारों में वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रसंगगत कथन की अपेक्षा कोई विशेष मौलिकता प्राप्त नहीं होती तथापि उनके जीव, जगत्, मोक्ष और रास-सम्बन्धी विचार अच्छे बन पड़े हैं। तुलसी ने दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में सूर की अपेक्षा अधिक व्यापकता का परिचय दिया है। उन्होंने अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद आदि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए अन्त में भक्ति-भावना को मत-बन्धन से ऊपर रखने का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में भी तुलसी का स्थान सूर से ऊँचा है। इसका कारण यही है कि सूर के काव्य की कथावस्तु में दार्शनिक विचारों की समष्टि के लिए अधिक अवकाश ही न था और प्रबन्ध-काव्य के रचयिता होने के कारण तुलसी को यह सुविधा सर्वत्र प्राप्त थी।

प्रकृति-चित्रण:—सूर और तुलसी ने अपने काव्य में प्रकृति के अनेक सौन्दर्य-चित्रों को उपस्थित किया है। सूर ने अपने काव्य में ब्रज के विविध प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने प्रकृति के कोमल और रुक्ष, दोनों ही रूपों का चित्रण किया है तथापि प्रकृति के कोमल रूप का अंकन करने में ही उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने प्रकृति के आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक और अलंकारिक चित्र उपस्थित किये हैं। तथा ऋतु-वर्णन के प्रसंग में उन्होंने वर्षा और शरद् ऋतु के आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं। उनके पात्रों के व्यक्तित्व का विकास प्रकृति के अंचल में ही हुआ है। अतः उनके काव्य में प्रकृति के व्यापक प्रतिनिधित्व का होना स्वाभाविक ही है।

इसके विपरीत तुलसी के अधिकांश पात्रों के व्यक्तित्व का विकास

राज प्रासादों में हुआ है । इस कारण उनके काव्यों में प्रकृति-चित्रण के लिए अधिक अवकाश न रहा है तथापि उन्होंने सीता-स्वयम्वर और राम-वन-गमन के अवसर पर प्रकृति के अनेक शुद्ध आलंबनात्मक चित्र उपस्थित किये हैं। राम-वन-गमन के प्रकरण में उन्होंने ऋतु-वर्णन की सुन्दर योजना की है तथापि यह स्पष्ट है कि प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में सूर की तुलसी की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ रचनाएँ प्राप्त हैं ।

कलापक्ष

भाषाः—सूर के काव्य में ब्रजभाषा का मधुर रूप उपलब्ध होता है। उन्होंने अपनी भाषा को तत्कालीन जन-प्रचलित ब्रज भाषा से ग्रहण करते हुए उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना केवल ब्रजभाषा में ही की है। तुलसी ने काव्य की रचना ब्रजभाषा और अवधी भाषा में करते हुए इन दोनों ही भाषाओं को प्रौढ़ और परिमार्जित स्तर पर उपस्थित किया है। उन्होंने अवधी के पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही रूपों को लेकर काव्य-रचना की है। संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली के प्रयोग में भी वह सूर की अपेक्षा अधिक सचेष्ट रहे हैं। गुण-प्रयोग की दृष्टि से सूर ने अपने काव्य में केवल प्रसाद और माधुर्य नामक गुणों का ही समन्वय किया है, किन्तु तुलसी ने इन दोनों के अतिरिक्त ओज गुण को भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किया है। भाषा को सजीवता प्रदान करने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग में दोनों ही कवि समान रूप से सचेष्ट रहे हैं। शब्द-शक्तियों के प्रयोग के विषय में भी लगभग यही बात कही जा सकती है तथापि व्यंजना शक्ति का प्रयोग सूर के काव्य में अधिक हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा-प्रयोग के क्षेत्र में तुलसी ने सूर की अपेक्षा अधिक विविधता और प्रौढ़ता का परिचय दिया है।

शैलीः—शैली-प्रयोग की दृष्टि से सूर और तुलसी ने चित्र-शैली के प्रयोग में पर्याप्त दक्षता दिखलायी है। मुक्तक काव्य होने के कारण

'सूर-सागर' में चित्र-सृष्टि के लिए अधिक अवकाश विद्यमान रहा है और सूर ने चित्र-शैली का तुलसी की अपेक्षा अधिक सुन्दर प्रयोग किया है ।

चित्र-शैली के उपरान्त प्रगीत शैली के आधार पर सूर और तुलसी के काव्य की समीक्षा करने पर भी हमें सूर का काव्य ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। मुक्तक रूप में लिखित होने के कारण 'सूर-सागर' में तुलसी के काव्य की अपेक्षा प्रगीतशैली के समावेश के लिए अधिक अवसर वर्तमान रहे हैं। यद्यपि यह सत्य है कि तुलसी ने भी 'विनय पत्रिका' में प्रगीत शैली का सुन्दर परिचय दिया है तथापि इस शैली के प्रयोग में सूर को ही अधिक सफल कहा जाएगा ।

इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त सूर और तुलसी ने समास शैली, संलाप शैली, प्रश्न शैली, वर्णनात्मक शैली, सम्बोधन शैली और उद्बोधन शैली आदि अन्य शैलियों का भी प्रयोग किया है। इन शैलियों के प्रयोग की दृष्टि से इन दोनों कवियों के काव्य की तुलना करने पर हम समष्टि-गत रूप में इन शैलियों का दोनों ही के काव्य में लगभग समान प्रयोग पाते हैं ।

इतना होने पर भी शैली-प्रयोग के क्षेत्र में तुलसी को सूर की अपेक्षा अधिक विविधता प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त हुआ है और उन्होंने अपने युग में प्रचलित छप्पय-पद्धति, कवित्त–सवैया-पद्धति, और सूक्ति-शैली आदि को भी अपनाया है। इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने काव्य की अधिक विविधतामय रचना की है। उनके काव्य की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने प्रगीत शैली के साथ-साथ प्रबन्ध शैली को भी अपनाया है और इस शैली में 'रामचरितमानस' जैसे उत्कृष्ट काव्य का प्रणयन किया है। सूर के काव्य में इस शैली का नितान्त अभाव है । अतः शैली-प्रयोग के क्षेत्र में भी तुलसी ही सूर से आगे हैं।

अलंकार—काव्य में सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अलंकारों का नियोजन नितान्त आवश्यक होता है। सूर और तुलसी ने अपने काव्य में अर्थालंकारों

और शब्दालंकारों का व्यापक प्रयोग किया है। अलंकार प्रयोग करते समय इन दोनों कवियों में से किसी ने भी कृत्रिमता को प्रश्रय नहो दिया है। यही कारण है कि सूर और तुलसी के काव्य में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों तथा अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि भाषा-सौन्दर्य के विधायक शब्दालंकारों का सर्वत्र स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। अलंकार-प्रयोग करते समय उन्होंने प्राचीन परम्परा का अनुसरण करने के साथ-साथ अनेक स्थानों पर अपनी मौलिक प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है। इतना होने पर भी अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र मे सूर की अपेक्षा तुलसी ही अधिक श्रेष्ठ हैं। इसका कारण यह है कि साहित्यिक ज्ञान की अधिकता के कारण तुलसी ने सूर की भाँति अपने अलंकारों को स्वाभाविक स्तर पर रखने के साथ-साथ उन्हें अधिक प्रौढ़ और सुष्ठु रूप प्रदान किया है।

छन्द:——सूर ने अपने काव्य की रचना गेय पद शैली के अनुरूप की है, अतएव उनके काव्य में छन्दों का प्रयोग यत्र-तत्र प्रसंगगत रूप में ही हुआ हैं। इसके विपरीत तुलसी ने अपने काव्य में विविध छन्दों की पिंगल शास्त्र के अनुकूल उत्कृष्ट योजना की है। उनके काव्य में घनाक्षरी, छप्पय, झूलना, दोहा, सोरठा, और चौपाई आदि विभिन्न छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है। अतः छन्द-प्रयोग की दृष्टि से तुलसी सूर की अपेक्षा निर्विवाद श्रेष्ठ हैं।

उपसंहार

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि तुलसी की कला में सर्वांगीणता है और सूर की कला में उस सर्वांगीणता का अभाव होने पर भी विशेष कलात्मक उपकरणों का तुलसी की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रयोग प्राप्त होता है। भाव-क्षेत्र में भी यह कथन इसी प्रकार सत्य है। सूर ने सीमित क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है और तुलसी ने इसी प्रतिभा को विस्तृत रूप प्रदान करते हुए अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया

है। सूर और तुलसी के काव्य की तुलनात्मक समीक्षा करते समय इस सर्वांगीणता और एकांगिता का ध्यान रखना आवश्यक है। 'सूर सूर तुलसी ससी' की प्रचलित उक्ति के अनुसार सूर को तुलसी की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना तुलसी के साथ निश्चय ही अन्याय करना होगा। तुलसी का क्षेत्र असंदिग्ध रूप से अधिक व्यापक और विस्तृत है पर सूर के माधुर्य-पक्ष में उनकी समानता करना असंभव ही प्रतीत होता है। भक्तिकाल में ये दोनों ही कलाकार अग्रदूत हैं और साहित्य को उनकी अमर रचनाएँ सदैव गौरवान्वित करती रहेंगी।

१२. 'रामचन्द्रिका' में सम्वाद-योजना

रीति-धारा के प्रमुख कलाकारों में आचार्य केशव का अपना पृथक् स्थान है। जहाँ एक ओर उन्होंने 'कवि-प्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रणयन कर साहित्यकार के आचार्य-रूप को अलंकृत किया है, वहाँ दूसरी ओर 'रामचन्द्रिका' नामक काव्य-कृति उपस्थित कर अपनी काव्य-प्रतिभा का भी सुन्दर परिचय दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य-भावना की दृष्टि से कतिपय स्थलों पर केशव को बहुत अधिक सफलता उपलब्ध नहीं हुई तथापि केवल इसी दोष के कारण उनकी समग्र काव्य-विभूति के अस्तित्व का विस्मरण कर देना कवि के प्रति एक अन्याय होगा। उनकी 'रामचन्द्रिका' में काव्य-कला के विभिन्न गुणों का सुन्दर सन्निहन हुआ है। विशेषतः उसमें प्रस्तुत की गई सम्वाद-योजना अपने में अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी है।

सम्वाद-योजना से हमारा तात्पर्य किसी काव्य-कृति में चित्रित किये गये पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप से है। किन्हीं भी दो पात्रों द्वारा परि-स्थिति अथवा व्यक्तित्व को विकास प्रदान करने के लिए कवि जिस पार-स्परिक विचार-विनिमय का आश्रय लेता है उसे 'सम्वाद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वैसे तो संवाद-योजना प्रत्येक प्रकार के काव्य में सजीवता का सन्निवेश करती है, किन्तु महाकाव्य में उसके द्वारा एक विशेष गत्यात्मक सौन्दर्य का आगमन होता है। पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ने के साथ-साथ कथानक की गति भी उसके द्वारा विकास की ओर उन्मुख होती है। इसके अतिरिक्त सम्वाद-योजना के कारण काव्य में

रोचकता, प्रवहमानता आदि अन्य विशेषताओं का भी पर्याप्त उद्भावन होता है।

सम्वाद-योजना की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' का महत्व अपने में अप्रतिम है। रीति-काल की अन्य कोई भी काव्य-कृति इस क्षेत्र में इसके समकक्ष नहीं ठहर सकती। केवल सम्वादों की आयोजना-मात्र से किसी काव्य की सौन्दर्य-श्री की अभिवृद्धि नहीं हो जाती, अपितु उसके लिए उन सम्वादों का उत्कृष्ट स्तर पर प्रस्थित होना नितान्त अनिवार्य है। इस तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए जब हम 'रामचन्द्रिका' के सम्वादों का समीक्षात्मक अध्ययन करते हैं तो उनकी श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत कृति के अन्तर्गत सम्वाद-सम्बन्धी विभिन्न विशेषताओं का सुन्दर रूप में समावेश हुआ है। वे भावना तथा कला दोनों की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं और उनसे अध्येता की मनःचेतना तुरन्त ही प्रभावित हो जाती है।

'रामचन्द्रिका' के सम्वाद अथ से इति तक सजीवता से अनुप्राणित रहे हैं। यही कारण है कि उनमें रोचकता की मात्रा अपने चरम रूप में वर्तमान है और अध्येता के मन को अनुरंजना प्रदान करने में वे पूर्णतः समर्थ हैं। किसी भी प्रकार की कुण्ठित चेतना से वे सर्वथा पृथक् हैं। सम्बद्ध पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन के साथ-साथ वे कथा-विकास को भी पर्याप्त गति प्रदान करते हैं। उनके द्वारा कवि ने अपने पात्रों की आन्तरिक भावनाओं को अपने मूल रूप में अनावृत्त किया है। यही कारण है कि उनका चरित्र-चित्रण करते समय पाठक को किसी विशेष असुविधा का सामना नहीं करना पड़ता।

अपने सम्वादों को चेतना के सजीव तत्वों से युक्त करने की भावना से प्रेरित होकर केशव ने उनमें वैविध्य के गुण का विशेष रूप से संचरण किया है। यदि किसी काव्य-कृति के अन्तर्गत सन्निहित समग्र सम्वादों को केवल एक ही प्रकार की भाव-भूमि पर प्रस्थापित किया जाए तो उनमें

विशेष प्रभावोत्पादकता नहीं आती। अतः उनमें विभिन्नता का समावेश करना अनिवार्य है। कविवर केशव इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे और इसी को लक्ष्य में रखते हुए उन्होंने 'राम-चन्द्रिका' के सम्वादों में भाव तथा कला, दोनों दृष्टियों से वैविध्य का समावेश किया है। वस्तुतः यह कवि की कुशल काव्य-प्रतिभा तथा सूक्ष्म अन्तदृष्टि का ही परिचायक है। 'रामचन्द्रिका' में हमें मुख्यतः छः प्रकार के सम्वाद प्राप्त होते हैं—आध्यात्मिक सम्वाद, रसोद्भावक सम्वाद, श्रेयात्मक सम्वाद, परिचयात्मक सम्वाद, अद्भुत सम्वाद तथा गत्यात्मक सम्वाद। आगे हम क्रमशः इनका विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

'रामचन्द्रिका के कतिपय सम्वाद इस प्रकार के हैं, जिनमें कवि ने आध्यात्मिक तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कोई भी दो पात्र परस्पर आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं। एक पात्र हृदय की जिज्ञासा वृत्ति से प्रेरित होकर प्रश्न करता है और दूसरा पात्र उसका उत्तर देते हुए उस विषय का विवेचन करता है। वशिष्ठ-राम-सम्वाद इसी प्रकार का है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में पहले राम अपने गुरु वशिष्ठ जी से मुक्त जीवों की परिभाषा पूछते हैं और तदुपरान्त मुनि वशिष्ठ उसका उत्तर देते हैं :—

(श्रीराम)—जीव बंधे सब आपनी माया।
कीन्हें कुकर्म मनो बच काया॥
जीवन चित्त प्रबोधन आनो।
जीवन मुक्त को मर्म बखानो॥

(वशिष्ठ)—बाहर हूँ अति शुद्ध हिये हूँ।
जाहि न लागत कर्म किये हूँ॥
बाहर मूढ़ सु अन्तस यानो।
ताकहं जीवन मुक्त बखानो॥

'रामचन्द्रिका' के रसोद्भावक सम्वाद अपने में अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उनसे रस का एक अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है जो तुरन्त ही अध्येता के मानस में पैठता चला जाता है। यही कारण है कि इस प्रकार के सम्वाद रस की दृष्टि से घनीभूत होकर श्रोता अथवा अध्येता की चेतना को मुग्ध कर लेते हैं। सर्वप्रथम हम वीर रस से प्रेरित सम्वादों को लेते हैं। इन सम्वादों में निश्चय ही शौर्य-भावना का अत्यन्त श्रेष्ठ उद्भावन किया गया है। इस प्रकार के सम्वादों में 'रावण-वाणासुर-सम्वाद' विशेष उल्लेखनीय है। इसमें दोनों सम्बद्ध पात्र शौर्य-भावना से प्रेरित होकर वार्तालाप करते हैं और अपने विभिन्न गुणों का उल्लेख कर अपने को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस सम्वाद में अथ से इति तक उत्साह भावना परिव्याप्त रही है और कहीं भी इस रस की चेतना कुण्ठित नहीं हो पायी है। केशव ने इसमें संक्षिप्त कथन की जिस प्रणाली का आश्रय लिया है वह निश्चय ही स्तुत्य है। एक ही छन्द में अनेक उत्तर-प्रत्युत्तर संघटित हैं और इतना होने पर भी अर्थ का पूर्ण निर्वहन हो जाता है। एक उदाहरण देखिए :—

(रावण)—बाण न बात तुम्हें कहि आवै।
(बाण)—सोई कहौ जिय तोहि जो भावै॥
(रावण)—का करिहौ हम यों ही बरंगे ?
(बाण)—हैहयराज करी सो करंगे॥

इसी प्रकार कतिपय सम्वादों में रौद्र रस की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ जिस समय श्री रामचन्द्र जी शिव का धनुष खण्डित करते हैं, उस समय परशुराम अत्यन्त क्रोधित हो उठते हैं। ज्यों ही उन्हें यह समाचार उपलब्ध होता है, त्यों ही वह राम को दण्डित करने के लिए उस ओर चल पड़ते हैं। मार्ग में ही उनकी राम तथा लक्ष्मण से भेंट हो जाती है और वह उनसे क्रोधपूर्ण वार्तालाप करते हैं। पहले तो राम उनके समक्ष अत्यन्त विनयपूर्वक सम्वाद करते हैं, किन्तु जब परशुराम किसी प्रकार भी अपने

उग्र वचनों के प्रहारों से विमुख नहीं होते तो उन्हें भी क्रोध आ जाता है और प्रस्तुत सम्वाद में रौद्र रस की अधिकाधिक परिव्याप्ति हो जाती है। 'रामायण' में रौद्र रस की दृष्टि से 'लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद' का विशेष महत्व है, किन्तु केशव ने लक्ष्मण के स्थान पर राम से परशुराम का संवाद कराया है। यद्यपि सम्वाद-योजना की दृष्टि से इससे कोई विशेष अन्तर उपस्थित नहीं हुआ, तथापि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्वाद अनुचित प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि राम की प्रकृति प्रारम्भ से ही विनम्र रही है। अतः उनके द्वारा उग्र वार्तालाप कराना निश्चय ही असंगत है।

'रामचन्द्रिका' में वीर रस से सम्बद्ध शौर्य-प्रेरित सम्वाद प्रायः दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के सम्वाद अपने में नितान्त सामान्य हैं और उनमें वीर रस की शद्ध अभिव्यक्ति हुई है। इनमें सम्वाद से सम्बद्ध दोनों पात्र वीर रसात्मक उक्तियों का कथन करते हैं। द्वितीय प्रकार के सम्वाद वे हैं, जिनमें वीर रस की अभिव्यंजना होने के साथ-साथ अन्य विशेषताओं का भी यथोचित समावेश हुआ है। इस प्रकार के सम्वादों में केवल एक पात्र ही शौर्यपूर्ण उक्तियों का प्रवचन करता है और उससे वार्तालाप में संलग्न होने वाला अन्य पात्र वीर रस से इतर भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। इन सम्वादों को 'शौर्य-प्रेरित विशेष सम्वाद' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इनमें सामान्य वीर रसात्मक सम्वादों की अपेक्षा विशेष चमत्कार सन्निहित रहता है। उदाहरणार्थ 'कुश-लक्ष्मण-सम्वाद, का निम्नलिखित अंश देखिए :—

(कुश) —

न हौं मकराक्ष न हौं इन्द्रजीत ।
विलोकि तुम्हें रण होहुँ न भीत ।।
सदा तुम लक्ष्मण उत्तम गाथ ।
करौं जनि आपनि मातु अनाथ ।।

(लक्ष्मण)—

हौं हतिहौ कबहूँ नहिं तोहीं ।
तू बरु बाणन बेधहि मोंहीं ।।
बालक विप्र कहा हनिये जू ।
लोक, अलोकन में गनिये जू ।।

यहाँ कुश के सम्वाद में शौर्य गुण की परिव्याप्ति है, किन्तु लक्ष्मण की उक्ति में क्षमा तथा रण-नीति के तत्वों का समावेश हुआ है। वीर तथा रौद्र के अतिरिक्त करुण रस के सम्वाद भी 'रामचन्द्रिका' में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ सीता-त्याग के समय भरत और शत्रुघ्न से राम के सम्वाद में करुणामूलक भावनाएं अथ से इति तक वर्तमान रही हैं। उसके अध्ययन से अध्येता की समग्र चित्तवृत्तियाँ करुणा के स्रोत में निमग्न हो जाती हैं और उसे एक विशेष आनन्द की उपलब्धि होती है।

आध्यात्मिक तथा रसोद्भावक सम्वादों के अतिरिक्त केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में श्रेयात्मक सम्वादों की भी योजना की है। इन सम्वादों में एक पात्र अन्य पात्र को प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रस्तुत कृति में इन सम्वादों का परिग्रहण दो रूपों में किया गया है। एक प्रकार के सम्वाद तो वे हैं, जिनमें सामान्यतः एक पात्र अन्य पात्र को निवृत्ति का उपदेश देता है तथा उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करता है। ऐसा करते समय वह पात्र किसी विशेष भावना से प्रेरणा ग्रहण नहीं करता, अपितु केवल अन्य पात्र की भलाई के लिए ही उसे उपदेश देता है। 'रामचन्द्रिका' के 'कुम्भकरण-रावण-सम्वाद' तथा 'मन्दोदरी-रावण सम्वाद' इसी प्रकार के हैं। इनमें क्रमशः कुम्भकर्ण तथा मन्दोदरी ने रावण को सीता के लौटाने का उपदेश दिया है। द्वितीय प्रकार के श्रेयात्मक सम्वाद अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ हैं। इनमें एक पात्र हृदय की किसी विशेष भावना से प्रेरित होकर अन्य पात्र से तत्सम्बन्धी

वार्तालाप करता है। उदाहरणार्थ वन-गमन के समय लक्ष्मण कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर राम से वार्तालाप करते हैं और उनके साथ वन जाने का आग्रह करते हैं। इसमें उनकी चारित्रिकक विशेषता का अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उद्घाटन हुआ है। इसी प्रकार अशोक-वाटिका में किया गया 'सीता-रावण-सम्वाद' द्वितीय प्रकार के श्रेयात्मक सम्वादों का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। रावण अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर सीता को अपनी रानी बनाने की कामना प्रकट करता है, किन्तु सीता अपने सतीत्व के बल पर व्यंग्यपूर्ण वचनों द्वारा उसे निवृत्ति की ओर उन्मुख करती है :—

(रावण)—

अदेवी नृदेवीन की होहु रानी।
करैं सेव बानी मघौनी मृडानी॥
लिए किन्नरी किन्नरी गीत गावें।
सुकेसी नचें उर्वसी मान पावें॥

(सीता)—

अति तनु धनु रेखा नेक नाकी न जाकी।
खल सर खर धारा क्यों सहै तिक्ष ताकी॥
बिड़कन घन घूरे भक्षि क्यों बाज जावै।
सिव सिर ससि श्री को राहु कैसे सुछावै॥

इनके अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में बहुत-से सम्वाद इस प्रकार के हैं, जिनमें एक पात्र अन्य पात्र से उसका परिचय पूछता है और अन्य पात्र उत्तर देकर उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को शान्त करता है। ये सम्वाद भी श्रेयात्मक सम्वादों की भाँति दो प्रकार के हैं। एक वे जिनमें एक पात्र एक एक छन्द में प्रश्न करता है और दूसरा पात्र दूसरे छन्द में उसका उत्तर देता है। सीता और बाल्मीकि मुनि का सम्वाद इसी प्रकार का है। मुनि सीता जी से अपरिचत होने के कारण अनका परिचय पूछते हैं और वह अत्यन्त करुण शब्दों में उसका उत्तर देती हैं और अपना तथा अपने पति

आदि का परिचय देती हैं। द्वितीय प्रकार के परिचयात्मक संवाद वे हैं, जिनमें कवि ने संक्षिप्त प्रणाली का विशेष रूप से आश्रय लिया है। इनमें कवि ने उत्तर तथा प्रत्युत्तर के लिए दो पृथक्-पृथक् छन्दों का परिग्रहण नहीं किया, अपितु एक ही छन्द में दोनों सम्बद्ध पात्रों के वार्तालाप को सन्निहित कर दिया है। कतिपय स्थलों पर तो केवल एक ही पंक्ति में प्रश्न तथा उत्तर दोनों का समाहार कर दिया है। किन्तु इससे अर्थ में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार के छन्द परिचयात्मक सम्वादों के अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ सीता तथा हनुमान के सम्वाद से उद्धृत अधोलिखित पंक्तियों में अशोक-वाटिका में सहसा हनुमान जी को पाकर सीता जी भय तथा आश्चर्य से चकित होकर उनसे अनेक प्रश्न करती हैं और हनुमान जी सरलतापूर्वक उनका उत्तर देते हैं--

> कर जोरि कह्यो हौं पौन पूत ।
> जिय जननि जानि रघुनाथ दूत ॥
> रघुनाथ कौन दशरत्थनन्द ।
> दशरत्थ कौन अज तनय चन्द ॥
> केहि कारण पठये यहि निकेत ।
> निज देन लेन सन्देस हेत ॥
> गुण रूप सील सोभा सुभाव ।
> कछु रघुपति के लक्षण सुनाव ॥

कतिपय स्थलों पर केशव ने मानव-पात्रों के साथ पशुओं अथवा पक्षियों का सम्वाद कराया है। इस प्रकार के सम्वादों में स्वभावतः ही अद्भुत तत्त्वों का समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ 'राम-चन्द्रिका' में जिस समय श्री रामचन्द्र अपने भाइयों, मन्त्री तथा ऋषिगण सहित न्यायालय में होते हैं, उस समय एक श्वान उनकी सभा में प्रवेश करता है और उनके सम्मुख अपना अभियोग उपस्थित करता है। राम भली-भाँति उसके प्रश्नों का उत्तर देते हैं और उससे अत्यन्त उदारतापूर्ण व्यवहार करते हैं।

वह उसके साथ मनुष्य की भाँति ही वार्तालाप करता है और राम भी बिना किसी प्रकार का आश्चर्य किये उसके साथ सम्वाद में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार के सम्वादों के अध्ययन से अध्येता की कुतूहल-वृत्ति का पोषण होता है और उसके अन्तस् में अद्‌भुत रस का उद्रेक होने लगता है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के सम्वादों के अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में एक अन्य प्रकार की सम्वाद-प्रवृत्ति भी उपलब्ध होती है जिसे हम गत्यात्मक सम्वाद की प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन सम्वादों में अथ इसे इति तक एक त्वरित गति के दर्शन होते हैं और इनमें स्वाभाविकता की मात्रा भी अपने चरम रूप में वर्तमान रहती है। इनमें एक पात्र अन्य पात्र से किसी विषय में प्रश्न करता है और वह पात्र बिना किसी विलम्ब के उसका उत्तर दे देता है। ऐसा करते समय उसे किसी प्रकार के संकोच अथवा हीनता की अनुभूति नहीं होती और वह अत्यन्त अल्प समय में अतिशय चमत्कारिक उक्तियों की उद्‌भावना करता है। इससे जहाँ कथा के विकास में सहयोग प्राप्त होता है, वहाँ दूसरी ओर रस-धारा में भी प्रवहमानता का सन्निवेश होता है। अध्येता के अन्तस् को सन्तुष्ट करने के साथ ही इस प्रकार के सम्वाद उसके मस्तिष्क को भी परितोष प्रदान करते हैं और उसकी बोध-वृत्ति को पर्याप्त मात्रा में विकास की ओर उन्मुख करते हैं। यही कारण है कि केशव ने इस प्रकार की गत्यात्मक सम्वाद-योजना को प्रश्रय प्रदान किया है। 'रामचन्द्रिका' से उद्धृत अंगद-रावण-सम्वाद का एक इसी प्रकार का गतिपूर्ण उदाहरण देखिए:—

(रावण)—

कौन हो पठये सो कौने ह्याँ तुम्हें कह काम है ?

(अंगद)—

जाति बानर, लंक नायक दूत, अंगद नाम है ॥

(रावण)—

कौन है वह बाँधि कै हम देह पूंछ सबै दही।

(अंगद)—

लंक जारि सँहारि अक्ष गयो सो बात वृथा कही ?

यहाँ रावण के प्रश्नों में व्यंग्य निहित है और अंगद के उत्तरों में निर्भीकता, साहस, स्पष्टोक्ति, उपदेश-वृत्ति, व्यंग्य आदि अनेक विशेषताओं का सन्निवेश है। इस प्रकार हमने देखा कि 'रामचन्द्रिका' के समग्र सम्वाद अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। उनके द्वारा कवि का लक्ष्य अत्यन्त सहज रूप में पूर्ण हो सकता है और उनकी विचार-धारा अतिशय सुन्दर रीति से अध्येता के समक्ष प्रस्तुत हुई है। उनके माध्यम से पात्रों के अन्तरतम की समग्र विशेषतायें नितान्त निखरे हुए रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। वैसे तो 'रामचन्द्रिका' के समस्त सम्वाद अपने में अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं, किन्तु 'हनुमान-रावण-सम्वाद' प्रस्तुत कृति का सर्वश्रेष्ठ सम्वाद है। इसकी आयोजना करते समय कवि ने भावना तथा कला, दोनों की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावोत्पादक उपकरणों का सगुम्फन किया है। यही कारण है कि प्रस्तुत सम्वाद प्रथम दृष्टि में ही अध्येता की चेतना को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यथा:—

रे कपि, कौन तू ? अक्ष को घातक दूत बलि रघुनन्दन जू को।
को रघुनन्दन रे ? त्रिशिरा-खर दूषण-दूषण भूषण भू को ।।
सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहि देखो।
कैसे बँधायो ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ।।

यहाँ हनुमान के प्रत्येक उत्तर में रावण के प्रति एक व्यंग्यपूर्ण उपदेश की ध्वनि प्रस्फुटित होती है। साथ ही इसमें हनुमान की निर्भीकता भी स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित हुई है। यही कारण है कि यह सम्वाद भाव-पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है। केवल इतना ही नहीं, अपितु शैली के क्षेत्र में भी इसमें अनुपम तत्वों का परिग्रहण हुआ है। इसमें एक ही पंक्ति में प्रश्न तथा उत्तर दोनों का समाहार हो गया है और अर्थ में संक्षिप्त कथन के कारण कहीं भी गत्यवरोध उपस्थित नहीं हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'रामचन्द्रिका' में की गई सम्वाद-योजना निश्चय ही अत्यन्त स्तुत्य है। उसमें सर्वत्र एक सजीव चेतना अन्तर्निहित है और कुण्ठित भाव-धारा का उसमें सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि वह अथ से इति तक निसर्ग धरातल पर अवस्थित रही है और उसमें किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं आ पाई है। कथानक को गति प्रदान करने में भी वह पूर्ण समर्थ है और इस दृष्टि से उसका एक विशेष महत्व है।

१३. बिहारी की काव्य-कला

हिन्दी-साहित्य की रीति-धारा को उन्नयन की ओर प्रवृत्त करने वालों में कविवर बिहारी का स्थान मूर्धन्य पर अवस्थित है। रीतिकालीन साहित्य की मूल चेतना शृंगारपरक तत्वों पर आधृत रही है। और बिहारी ने उसके पल्लवन में पूर्ण योग प्रदान किया है। शृंगार-भावना को आत्मसात करते हुए उन्होंने 'सतसई' के रूप में जो अमूल्य उपहार हिन्दी-साहित्य को प्रदान किया है, वह अपने में नितान्त अप्रतिम है। इस काव्य-कृति का साहित्य-वैभव अत्यन्त निखरे हुए रूप में अध्येता के समक्ष उपस्थित हुआ है और यही कारण है कि केवल-मात्र इसी ग्रन्थ के प्रणयन के बल पर बिहारी ने हिन्दी-साहित्य में अपरिमित ख्याति प्राप्त की है। अपनी लोकोत्तर काव्य-प्रतिभा और सरस भाव-योजना के माध्यम से उन्होंने अपने काव्य में एक अपूर्व सौष्ठव का संचरण किया है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञों ने उनकी सतसई को ब्रजभाषा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में उद्घोषित किया है:—

ब्रज भाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल।
सब की भूषण सतसई रची बिहारी लाल॥

बिहारी ने अपने काव्य में जिन विशिष्ट सूत्रों का संग्रहण किया है, वे कवि की सूक्ष्म भावयित्री प्रतिभा का परिचय देने में पूर्ण समर्थ हैं। उनकी 'सतसई' में अथ से इति तक सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं गहन अन्तर्दर्शन की भावनाएँ अपने चरम आकर्षक रूप में परिव्याप्त रही हैं और यही कारण है कि 'बिहारी सतसई' अध्येता की मनस चेतना को प्रभावित करने में

पूर्णतः समर्थ है। इसमें समाविष्ट सूक्ष्म भावनाएँ अपने में इतनी सजीव तथा रमणीय हैं कि वे रस की दृष्टि से घनीभूत होकर अध्येता की मानस में पैठती चली जाती हैं। इसके अध्ययन से पाठक कल्पना के एक ऐसे भाव-लोक में निमग्न हो जाता है जहाँ रस के मधुमय स्रोत उसके अन्तस् को अपने में समाहित कर उसे पूर्ण आनन्द एवं शान्ति प्रदान करते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई के प्रणयन द्वारा हिन्दी-साहित्य की श्रृंगारिक परम्परा को पर्याप्त मात्रा में विकास की ओर उन्मुख किया है। यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा करते समय उन्होंने मूलतः रीतिकाल की प्रचलित श्रृंगार-पद्धति का ही परिग्रहण किया है, तथापि उनकी मौलिक चेतना पूर्वाग्रहों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त रही है और यही कारण है कि उन्होंने श्रृंगार रस को उसके प्रचलित रूप के साथ-साथ अपने मौलिक तत्वों से भी संयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विद्यापति और सूर से भी सूक्ष्म चित्रों की प्रेरणा ग्रहण की है। इसी कारण उनकी सतसई की गणना श्रृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में की जाती है। निश्चय ही उसके अन्तर्गत श्रृंगार रस की धारा अत्यन्त सरस एवं अजस्र रूप में प्रवहमान रही है। इसी कारण उसके विषय में निम्नलिखित दोहा सर्व प्रचलित है—

जो कोई रस रीति को, समुझा चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को श्रृंगार॥

बिहारी ने श्रृंगार रस को उसकी समग्रता में परिगृहीत किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में श्रृंगार के संयोग एवं विप्रलम्भ, दोनों स्वरूपों का सन्निहन हुआ है। साहित्यकारों ने श्रृंगार रस को उसके माधुर्य के कारण समग्र रसों के मूर्धन्य पर स्थापित किया है। कविवर बिहारी ने इसी महत्वपूर्ण तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए श्रृंगार की मधुमयी चेतना का

आधार ग्रहण किया है। उनकी सौन्दर्य-सजग अन्तर्चेतना ने शृंगार के क्षेत्र में अवगाहन किया है और यही कारण है कि उनके काव्य में शृंगार रस का पूर्ण प्रकर्ष उपलब्ध होता है।

संयोग शृंगार का मंडन करते समय बिहारी ने रूप-चित्रण तथा अनुभाव-विधान के तत्वों का विशेष आधार ग्रहण किया है। उन्होंने सौन्दर्य-तत्त्व को सर्वत्र शीर्ष स्थान प्रदान किया है और इसी के परिणाम-स्वरूप उनके काव्य में रूप-चित्रण को सदैव प्राथमिकता उपलब्ध हुई है। सौन्दर्य की यथातथ्य प्रतिकृति उपस्थित करने में उन्हें पर्याप्त सफलता की उपलब्धि हुई है। अपनी नायिका के अंग-प्रत्यंग की शोभा का चित्रण उन्होंने इतनी तन्मयता तथा कुशलता से किया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो स्वयं सौन्दर्य ही साकार रूप धारण कर हमारे चक्षुओं के समक्ष उपस्थित हो गया हो। उसकी रूप-छटा में प्रकृति की नैसर्गिक रमणीयता अपने चरम रूप में वर्तमान है। उसके शरीर का वर्ण इतना अधिक श्वेत तथा स्वच्छ है कि उसके समक्ष दर्पण की कान्ति भी तुच्छ होकर फीकी पड़ जाती है। जिस समय वह पान खाती है, उस समय उसके गोरे गले की विमल तथा पतली त्वचा में से नीचे उतरती हुई पान की पीक स्पष्ट ही झलकती है और दर्शक को सहसा ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह गुलबन्द में जड़े हुए माणिक्य की झलक हो। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार के वर्णन अतिरंजना के कारण कुछ अस्वाभाविक-से प्रतीत होने लगते हैं, तथापि कवि की प्रभावोत्पादक शैली तुरन्त ही अध्येता के हृदय में पैठ जाती है। यथा:—

खरी लसति गोरैं गरैं, धँसति पान की पीक।
मनौ गुलीबँद-लाल की, लाल, लाल दुति-लीक॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४४०)

इतना होते हुए भी बिहारी के काव्य में स्वाभाविकता का नितान्त

अभाव नहीं है। उन्होंने सौन्दर्य-तत्व के नितान्त शुद्ध रूप में दर्शन किए हैं और उसी रूप में उसकी अभिव्यक्ति भी की है। सौन्दर्य की यथातथ्य निश्छल अभिव्यक्ति ही उन्हें विशेष प्रिय है और इसी कारण उन्होंने अपनी नायिका को कृत्रिम अलंकारों को धारण करने से सहेतु वर्जित किया है । इस विषय में वह अत्यन्त स्पष्ट रीति से कहते हैं:—

पहिरि न भूषन कनक के, कहि जावत इहिं हेत ।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ।।

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३३५)

इस प्रकार हमने देखा कि नायिका की रूप-श्री का अंकन करते समय बिहारी ने परम्परागत रीति का अनुसरण करने पर भी अपनी मौलिक रीति को प्राथमिकता प्रदान की है। इससे भी अधिक उनकी मौलिक चेतना का परिचय हमें उनके द्वारा किये गए नायक के सौन्दर्य-चित्रण में उपलब्ध होता है। 'साहित्य-दर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि नायिका की भाँति काव्य में नायक के सौन्दर्य का भी चित्रण होना चाहिए। यदि मनोविज्ञान के तत्वों को दृष्टि में रखकर इस तथ्य की समीक्षा करें, तब भी यह भावना सर्वथा युक्तियुक्त ठहरती है। इतना होते हुए भी अन्य कवियों ने इसकी प्रायः उपेक्षा की है। कविवर बिहारी का दृष्टिकोण इस विषय में नितान्त प्रशस्त रहा है। और यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में नायक और नायिका के रूप का समान भाव से चित्रण किया है। उनके नायक का सौन्दर्य इतना मनोरम तथा अप्रतिम है कि उसकी रूप-सुधा का पान करते समय नायिका को अपने चतुर्दिक् वातावरण का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। निरन्तर अनिमिष दृष्टि से नायक की ओर देखते रहने पर भी उसकी तृप्ति नहीं हो पाती और वह कह उठती है:—

त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाइ ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाइ ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४१७)

रूप-चित्रण के साथ-साथ अनुभाव-संयोजन का तत्व भी बिहारी के काव्य में अत्यन्त मनोरम रीति से सुगुम्फित है । 'बिहारी-सतसई' में हाव-भाव आदि का अंकन अत्यन्त सुष्ठ रूप में हुआ है । वस्तुतः इस विधान से ही उनके काव्य में इतनी सजीवता का समावेश हो सका है । आलम्बन-गत अनुभावमय चेष्टाओं का प्रतिपादन करते समय उनकी अन्तर्चेतना विशेष सजग रही है और इसी कारण उनके द्वारा रस का पूर्ण उद्रेक हो सका है । लक्षण-ग्रन्थों में परिगणित होने वाले अनुभावों के अतिरिक्त उन्होंने इस क्षेत्र में अनेक नूतन भावनाओं की कल्पना को भी प्रश्रय प्रदान किया है । अनेक अनुभावों को एक ही दोहे में ग्रथित कर उनके द्वारा एक विशिष्ट मनोरम वातावरण की सृष्टि करने में बिहारी विशेष रूप में कुशल हैं । यथा:—

कर समेट कच भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि ।
काकौ मनु बांध न यह जूरा बांधनहारि ॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन में करत है, ननन हीं सब बात ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहे ६८७ तथा ३२)

इस प्रकार संयोग श्रृंगार के अंकन में बिहारी ने नितान्त मौलिक तथा रसोद्भावक सूत्रों का परिग्रहण किया है । श्रृंगार रस को पूर्ण रूप प्रदान करने की भावना से प्रेरित होकर कवि ने उसके विप्रलम्भ पक्ष को भी परिगृहीत किया है । साहित्य-शास्त्रियों ने इस पक्ष को श्रृंगार रस का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप माना है । वस्तुतः इसके अन्तर्गत श्रृंगार से सम्बन्धित प्रेमिल भावनाएँ अपने शुद्ध तथा निश्छल रूप में वर्तमान रहती

हैं। बिहारी ने अपने काव्य में श्रृंगार के इस स्वरूप का परिग्रहण अवश्य किया है, किन्तु अतिरंजना के अत्यधिक आग्रह के कारण उसका विशेष उत्कर्ष नहीं हो सका है। उनके काव्य में प्रायः ऊहात्मक वर्णन-प्रणाली को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है और विरह-वर्णन में यह विधा अपने चरम रूप में उद्भूत हुई है। इसी कारण तत्सम्बन्धी वर्णन कुछ अस्वाभाविक-से प्रतीत होने लगते हैं। यथाः—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा २८३)

इतना होते हुए भी हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बिहारी का विरह-वर्णन सर्वथा अस्वाभाविक है और उसमें रस की आत्मा का एकान्त अभाव है। उनकी सतसई में ऐसे अनेक दोहे उपलब्ध होते हैं, जिनमें विरह की मार्मिकता का सुन्दर सन्निहन हुआ है। विरहिणी नायिका जब अपरिमित व्यथा के भार को वहन करने में असमर्थ हो जाती है, तब वह प्रियतम के पास सन्देश अथवा पत्रिकाएँ प्रेषित करती है। बिहारी ने इस भावना का परिग्रहण अनेक दोहों में किया है और उन सभी में विरह की मर्मस्पर्शी अनुभूति का पूर्ण समावेश है। एक उदाहरण देखिएः—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ६०)

साहित्य-शास्त्रियों ने विप्रलम्भ श्रृंगार के चार रूप माने हैं—राग, मान, प्रवास, एवं करुण। रस का पूर्ण उद्रेक किसी काव्य में केवल उसी समय सम्भव हो सकता है, जब उसमें इन चारों स्वरूपों का समावेश हो। बिहारी की सतसई में हमें इन चारों रूपों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इतना होते हुए भी उन्होंने विप्रलम्भ श्रृंगार के 'प्रवास' रूप को

सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वास्तव में प्रवास को ही हम विरह का मूल स्वरूप कह सकते हैं, क्योंकि अन्य रूपों में विरह की केवल कल्पना-मात्र ही रहती है, किन्तु प्रवास में उसकी पूर्ण चेतना समाविष्ट हो जाती हैं। इसी कारण बिहारी द्वारा किया गया विरह-वर्णन अपने में विशेष महत्वपूर्ण बन सका है।

यद्यपि यह सत्य है कि बिहारी ने अपने काव्य में श्रृंगार रस को शीर्ष स्थान प्रदान किया है, तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे इतर रसों का उनकी सतसई में नितान्त अभाव है। शान्त, हास्य एवं वीर नामक रसों को भी उन्होंने परिगृहीत किया है, और यद्यपि रसात्मकता की दृष्टि से श्रृंगार रस के समक्ष उनका स्थान नितान्त गौण है, तथापि उनके उद्भावन में कवि को पर्याप्त सफलता की उपलब्धि हुई हैं। इन सभी गौण रसों में शान्त रस का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। यद्यपि बिहारी के काव्य में इस रस के छन्द संख्या की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं हैं, तथापि उनमें रस का पूर्ण उद्रेक हुआ है और उनके अन्तर्गत कवि की निर्वेद-विषयक भावना अपने चरम रूप में स्फुरित हुई है। उनके अध्ययन द्वारा अध्येता की सात्विक वृत्तियाँ विशेष रूप से पल्लवित तथा पुष्पित होती हैं। उनके माध्यम से कवि ने आराध्य देव के प्रति अपनी भावनाओं को अत्यन्त निःस्वार्थ रीति से अर्पित किया है। इसी कारण उनमें उनकी भक्ति-भावना की अत्यन्त श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है। यथा:—

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४२५)

महाराजा जयसिंह के राजकवि होने के कारण बिहारी ने अपने बहुत से दोहों मे उनके शौर्य का स्तवन किया है। इन दोहों में निश्चय ही

वीर रस की अत्यन्त सुन्दर निष्पत्ति हुई है। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार के छन्द बिहारी ने बहुत अधिक संख्या में प्रणीत नहीं किये तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि इन छन्दों में रस की धारा पर्याप्त सुचारु रूप से प्रवहमान रही है। वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' उनमें पूर्णतः वर्तमान रहा है और यही कारण है कि उनके द्वारा अध्येता की शौर्यवृत्ति को पर्याप्त पोषण उपलब्ध होता है। इस प्रकार का एक सुन्दर उदाहरण देखिए:—

घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिं असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ७१२)

उपर्युक्त विवेचित रसों के अतिरिक्त विहारी ने कतिपय छन्दों का प्रणयन करते समय हास्य रस का भी आधार ग्रहण किया है। परिणाम की दृष्टि से अत्यन्त अल्प होते हुए भी ये छन्द प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अपने आप में अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं और उनके माध्यम से अध्येता की हास-वृत्ति को पर्याप्त परितोष प्राप्त होता है। बिहारी ने हास्य-रस की सृष्टि करते समय रूढ़ आलम्बनों का परित्याग कर सर्वथा नूतन आलम्बनों का परिग्रहण किया है और इस प्रकार अपनी मौलिक प्रतिभा का अत्यन्त श्रेष्ठ परिचय दिया है। उदाहरणार्थ किसी पौराणिक का किसी पर-स्त्री से प्रेम था। एक दिन वह पुराण का प्रवचन कर रहे थे। श्रोताओं में वह स्त्री भी थी। पुराण में किसी प्रसंग-वश पर-स्त्री-गमन का दोष निकला। उसे सुनकर वह स्त्री पौराणिक जी की ओर देखकर व्यंग्य से हँसी। यह देखकर पौराणिक के अधरों पर भी मुस्कान प्रस्फुटित होने वाली थी कि उन्होंने श्रोताओं से भेद को गुप्त रखने के लिए बल-पूर्वक उसे रोक लिया। उनकी इस हास्यास्पद स्थिति का चित्रण बिहारी ने अत्यन्त मनोरंजक शब्दों में किया है :—

परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि ।
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुंह-आई मुसकानि ।।

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा २६४)

इस प्रकार हमने देखा कि बिहारी ने विविध रसों की अत्यन्त श्रेष्ठ स्तर पर आयोजना की है। दोहे जैसे संकुचित परिधि वाले छन्द में इतने प्रशस्त रूप से रसात्मकता का निर्वहण कर कवि ने निश्चय ही अपनी अद्भुत काव्य-क्षमता का परिचय दिया है। मुक्तक काव्य की सफलता के लिए जिन गुणों की अपेक्षा रहती है वे उनके काव्य में अपने चरम रूप में उपलब्ध होते हैं। उनसे पूर्व 'दोहे' जैसे लघु छन्द में हिन्दी का कोई अन्य कवि समास-शक्ति की उद्भावना न कर सका था। बिहारी ने इसकी आयोजना कर अपने काव्य को उत्कृष्ट अर्थ-गाम्भीर्य प्रदान किया है। आकार की लघुता के कारण 'दोहा' छन्द की सारी सफलता एकमात्र कवि के समास-आयोजन-सम्बन्धी कौशल पर आधृत रहती है। इसी कारण रहीम ने एक स्थल पर कहा है:—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमटि कूदि चलि जाहिं ।।

बिहारी के काव्य में यह गुण अथ से इति तक परिव्याप्त है। उनके काव्य में कल्पना की समाहार-शक्ति तथा भाव एवं भाषा की समास-चेतना का उत्कृष्ट समन्वय हुआ है। गम्भीर से गम्भीर भावों को भी उन्होंने सूत्र रूप में गूढ़ार्थ व्यंजक भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः वह मुक्तक काव्य की मूल वृत्तियों से पूर्णतः परिचित थे और यही कारण है कि उन्हें उसमें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। उनके काव्य में वे सभी तत्व अपने चरम उत्कर्षमय रूप में वर्तमान हैं, जिनकी स्थिति किसी भी मुक्तक-काव्य में वांछनीय है। हिन्दी अथवा संस्कृत के अन्य किसी भी कवि में हमें इस समास-कौशल के दर्शन नहीं

होते । उदाहरणार्थ संस्कृत के 'अमरूक-शतक' और 'बिहारी-सतसई' में एक ही भाव की अभिव्यक्ति के इन रूपों की तुलना कीजिए:—

(अ) शून्यं वास गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हस्ता बाला चिरं चुम्बिता ॥

—(अमरुक शतक)

(ब) मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुहुँ चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ, रहीं गरैं लपटाय ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ६४२)

इस प्रकार जिस भाव को 'अमरूक-शतक' में चार पंक्तियों में अभिव्यक्त किया गया है, उसी को बिहारी ने केवल-मात्र दो पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर रीति से चित्रित किया है । वस्तुतः उन्होंने प्रत्येक शब्द का अंकन किसी लक्ष्य-विशेष को दृष्टि-पथ में रखकर किया है और यही कारण है कि उनके काव्य में समास-पद्धति-जनित अर्थ-गाम्भीर्य का सफल निर्वाह हो सका है । भाषा और भाव के अतिरिक्त उनके अनुभाव-विधान में भी समास-पद्धति का वैभव अन्तर्निहित है । रंगमंच पर अभिनीत करते समय जिन चेष्टाओं के लिए सम्बन्धित पात्रों को अधिक समय तथा श्रम का व्यय करना पड़ता है, उन्हें ही बिहारी ने केवल-मात्र एक दोहे में अत्यन्त सहज रीति से स्थापित कर दिया है । उनके इन्हीं गुणों को लक्ष्य में रखते हुए साहित्य के मर्मज्ञों ने उनकी सतसई के विषय में कहा है:—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ॥

बिहारी ने जीवन के विविध पक्षों का गम्भीर अनुशीलन करने के साथ-साथ मनुष्य के अन्तर के सहज सौन्दर्य का भी व्यापक अध्ययन किया है ।

यही कारण है कि उनके काव्य में संस्पर्श करने की शक्ति का उन्मुक्त सन्निहन दृष्टिगत होता है। कवि ने अपनी ,व्यापक अनुभूति और कोमल-कल्पना के आधार पर अपने दोहों में एक सर्वोन्मुखी आदर्श को उपस्थित करने का प्रयास किया है ।

काव्य से कृत्रिमता का निराकरण कर उसके अन्तर्गत एक विशिष्ट सहज सौन्दर्य का संचरण करने के कारण प्रकृति अनादि काल से उसमें स्थान प्राप्त करती आई है। काव्य से भावात्मक स्वरूप को और भी अधिक सजीव बनाने की भावना से प्रेरित होकर कविगण सदैव प्रकृति का आश्रय लेते हैं। हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक काल में प्रकृति ने उसके भाव-पक्ष का किसी न किसी रूप में विकास किया है। सूक्ष्म दृष्टि से समीक्षा करने पर हमें साहित्य में प्रकृति-चित्रण के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु मुख्यतः काव्य में प्रकृति आलम्बन तथा उद्दीपन नामक दो रूपों में उद्भूत होती है। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी-साहित्य में प्रायः इसका द्वितीय रूप ही प्रमुख रहा है। बिहारी के काव्य में भी प्रकृति-चित्रण प्रायः उद्दीपन-रूप में हुआ है। यथाः—

द्वैज-सुधादीधति-कला वह लखि, दीठि लगाइ ।
मनौ अकास-अगस्तिया एकै कली लखाइ ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ९२)

युग-साहित्य के प्रभाव की दृष्टि से बिहारी का उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण करना नितान्त स्वाभाविक है। वस्तुतः रीतिकाल के कवियों ने स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता को विशेष आग्रह के साथ अपनाया है। कतिपय दृष्टियों से बिहारी भी इसी प्रवृत्ति से पूर्ण रहे हैं, किन्तु फिर भी उनके काव्य में कुण्ठित चेतना के दर्शन किसी स्थल पर भी नहीं होते। उनकी सतसई में प्रकृति के उद्दीपन-चित्र अपेक्षाकृत अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं, किन्तु कतिपय स्थलों पर उन्होंने उसके शुद्ध आलम्बन-चित्रों का भी सुन्दर अंकन किया है। इन छन्दों में प्रकृति

अत्यन्त रमणीय तथा सजीव रूप धारण कर अध्येता के समक्ष प्रस्तुत हुई है। यथा:—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु अंध।।
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४९६)

भाव-पक्ष की भाँति बिहारी के काव्य का कला-पक्ष भी अत्यन्त समृद्ध है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की अधिकांश श्रेष्ठता भावों की उत्कृष्टता पर निर्भर होती है तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि कला-पक्ष के अभाव में भाव-पक्ष की सत्ता स्थिर नहीं रह सकती। चाहे किसी कवि के भाव कितने ही स्तुत्य हों, जब तक वह भाषा का आश्रय लेकर उन्हें अध्येता के समक्ष प्रस्तुत नहीं करेगा, तब तक उनका अस्तित्व सर्वथा निरर्थक होगा। अतः यह निश्चय है कि काव्य में भाषा का अत्यधिक महत्व है। बिहारी ने अपनी भाव-धारा को अत्यन्त उच्च कोटि की साहित्यिक ब्रज-भाषा में अभिव्यक्त किया है। वह व्याकरण-विशुद्ध और परम-परिमार्जित होने के साथ-साथ अत्यन्त मधुर तथा भावानुगामिनी भी है। यही कारण है कि जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास अवधी भाषा के सर्वोत्कृष्ट कलाकार माने जाते हैं, उसी प्रकार बिहारी को भी ब्रजभाषा के श्रेष्ठ प्रणेता के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है।

बिहारी की भाषा का सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि वह सदैव उनके भावों का अनुगमन करती है। इसी कारण उसके माध्यम से उनके भावों की यथातथ्य अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी है। व्यावहारिक भाषा के लिए केवल इतना ही पर्याप्त हो सकता है कि उसके माध्यम से हमारे भावों को अभिव्यक्ति प्राप्त हो सके, किन्तु साहित्यिक भाषा के उद्देश्य की इतिश्री केवल इतने से नहीं होती। उसका निश्चित लक्ष्य यह है कि वह अध्येता के समक्ष कलाकार के भावों को मूर्तिमान कर दे। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य की भाषा का भावानुगामिनी होना नितान्त अनिवार्य है।

अंग्रेजी के प्रख्यात कवि पोप ने काव्य भाषा के इसी गुण को लक्ष्य में रखते हुए अपने 'Essay on Criticism' में लिखा है।

It is not enough,
No harshness gives offence.
The Sound must Seem,
An echoe to the sense.

अर्थात् "काव्य भाषा के लिए केवल सरल होना ही पर्याप्त नहीं है प्रत्युत उसकी ध्वनि के अन्तर्गत कवि के अभिप्राय का सन्निवेश भी नितान्त अनिवार्य है।"

बिहारी की भाषा में हमें इस गुण का पूर्ण संघटन उपलब्ध होता है। उनकी भाषा भाव-धारा की सहगामिनी है और उसी के अनुरूप अपने को गहन तथा सरल बना लेती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा :—

तौ लगु या मन-सदन में हरि आवैं किंहि बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३६१)

इस दोहे में कवि ने जिन शब्दों का आश्रय लिया है, उनके द्वारा स्वतः ही उनका अभिप्राय ध्वनित हो रहा है। इन शब्दों से घण्टा बँधे हुए हाथी के चलने और वायु के मन्द-मन्द मन्थर गति से संचरित होने की ध्वनि उद्भूत हो रही है। इसी प्रकार द्वितीय छन्द में 'टकार' के बाहुल्य के श्रवण-मात्र से ही श्रोता को कपट की भीषणता का अनुभव हो जाता है।

बिहारी ने अपने काव्य में प्रत्येक शब्द का प्रयोग सार्थक रूप में किया है। यही कारण है कि वह गम्भीर से गम्भीर भाव को भी अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अभिव्यक्त करने में सफल हुए हैं। ब्रजभाषा को समास-रूप में

प्रयुक्त करने में बिहारी की प्रतिभा अपने आप में नितान्त अद्वितीय है। यद्यपि यह सत्य है कि सूर के काव्य में भी अनेक स्थलों पर इस विशेषता के दर्शन होते हैं, किन्तु बिहारी की काव्य-भाषा में तो यह गुण अथ से इति तक अपने चरम रूप में वर्तमान रहा है। यही कारण है कि उनकी भाषा में इतना अधिक गाम्भीर्य उपलब्ध होता है। एक उदाहरण देखिए:—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह कर, भौंहनु हँसै, दैन कहैं, नटि जाइ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४७२)

बिहारी की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद गुण स्थल-स्थल पर उपलब्ध होते हैं। उन्होंने वार्तालाप की शैली को विशेष महत्व प्रदान किया है। और उसी के अनुकूल अत्यन्त सरस एवं रमणीय ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। केवल एक दोहे में वह प्रश्न एवं उत्तर, दोनों की श्रेष्ठ आयोजना कर लेते हैं। उनकी भाषा की यह व्यावहारिक श्रेष्ठता निश्चय ही स्तुत्य है। इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है:—

बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइन माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु में छाँह॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा १६८)

भाषा में सजीवता के गुण की समष्टि के लिए उसके अन्तर्गत मुहावरों और लोकोक्तियों का यथोचित प्रयोग नितान्त अनिवार्य है। इससे जहाँ भाषा में प्राणों का संचरण होता है वहाँ उसमें एक विशेष चमत्कार एवं चारुता का भी आगमन होता है। कविवर बिहारी इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भाषा में प्रचलित मुहावरों का अत्यन्त उत्तम प्रयोग किया है। उनके काव्य में हमें स्थल-स्थल पर सुन्दर मुहावरों का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा :—

(१) आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं।
(२) जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन।

कतिपय स्थलों पर एक ही दोहे में अनेक मुहावरों का आगमन हुआ है, किन्तु उससे भाषा की चेतना कहीं भी कुण्ठित नहीं हो पाई है प्रत्युत उसके द्वारा भाषा के सौष्ठव में कुछ न कुछ वृद्धि का ही सन्निवेश हुआ है। यथा निम्नलिखित उदाहरण देखिए:—

> मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै परचौ पीठि कच-भारु ।
> रहै गरैं परि, राखिबौ तऊ हियें पर हारु ॥
>
> —(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४५१)

यहाँ वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ-रूपी दोहरे अर्थ निकलने से भाषा में अत्यधिक चमत्कार का सन्निवेश हुआ है। बिहारी की भाषा में चित्रा-त्मकता के गुण की भी सुन्दर समष्टि हुई है। श्लेष-वर्णन का चमत्कार उनकी भाषा में स्थल-स्थल पर प्राप्त होता है। उनकी वाक्य-रचना सर्वथा व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर अवस्थित है। शाब्दिक अंग-भंग और मन गढ़न्त शब्दों के व्यवहार के दोष से उनकी भाषा प्रायः मुक्त है। कतिपय स्थलों पर 'स्मर' के स्थान पर 'समर', 'कँको' के लिए 'ककै' जैसे कुछ विकृत रूप उपलब्ध होते अवश्य हैं, किन्तु ऐसा उन्हें छन्दानुरोध से केवल कहीं-कहीं करना पड़ा है, वैसे यदि समष्टि रूप से उनकी भाषा की समीक्षा की जाए तो स्पष्ट ही उसमें एक शुद्ध और स्वाभाविक प्रवाह के दर्शन होते हैं।

काव्य के सहज सौन्दर्य को और भी अधिक परिवर्धित करने के कारण साहित्य-शास्त्रियों ने अलंकारों को विशेष महत्व प्रदान किया है। यद्यपि यह सत्य है कि अलंकारों का बाहुल्य काव्य के सौष्ठव को विनष्ट कर देता है, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि यदि किसी काव्य-ग्रन्थ में अलंकारों का समुचित प्रयोग किया जाए तो उसका काव्य-सौष्ठव अध्येता के समक्ष अत्यन्त निखरे हुए रूप में प्रस्तुत होता है। वस्तुतः कुशल कलाकार ही अलंकारों द्वारा अपने काव्य के सौष्ठव को द्विगुणित कर सकने में सफल हो पाते हैं। कविवर बिहारी निश्चय ही एक सफल

कलाकार थे। उनकी सतसई में अलंकारों की आयोजना अत्यन्त प्रभा-वोत्पादक रीति से की गई है। यमक अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण देखिए:—

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा १२६)

बिहारी के काव्य में उपमा, रूपक, अन्योक्ति तथा उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों और अनुप्रास, यमक तथा श्लेष आदि शब्दालंकारों का प्रचुर रूप में सहज प्रयोग हुआ है। श्लेष का संघटन करने में बिहारी विशेष रूप से कुशल हैं। इसके लिए उन्होंने 'तरयौना', 'बेसर' आदि प्रचलित श्लिष्ट शब्दों का सुन्दर व्यवहार किया है। जहाँ तक अर्थालंकारों का प्रश्न है, बिहारी की सतसई में उपर्युक्त सभी अर्थालंकार अपने श्रेष्ठतम रूप में व्यवहृत हुए हैं। इतना होते हुए भी सांग रूपकों की आयोजना में कवि को विशेष सफलता की उपलब्धि हुई है। 'दोहा' जैसे लघु छन्द के अन्तर्गत सांग रूपक का संघटन करना यदि असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है, किन्तु बिहारी की समृद्ध प्रतिभा ने इसे अत्यन्त सहज-साध्य सिद्ध कर दिया है। उनके सांग रूपक अपने आप में इतने प्रभावपूर्ण हैं कि अध्येता की चेतना तुरन्त ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाती है। इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण देखिए:—

खौरि-पनिच भृकुटी-धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा १०४)

कतिपय स्थलों पर बिहारी ने एक दोहे में अनेक अलंकारों का समावेश किया है। इतना होते हुए भी उनमें किसी स्थल पर गत्यवरोध नहीं आने पाया है। इसके विपरीत कहीं-कहीं तो उनके द्वारा काव्य-सौष्ठव म और भी अधिक अभिवृद्धि हुई है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें

'बिहारी-सतसई' में उपलब्ध होते हैं। जैसे कवि के निम्नलिखित दोहे देखिए:—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हियँ, दई, नई यह रीति॥
रनित भृंग घण्टावली, झरित दान, मधु नीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीर॥
—(बिहारी, रत्नाकर, दोहे ३६३ तथा ३८८)

बिहारी की प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण तथा प्रखर थी। उनके काव्य में स्थल-स्थल पर हमें इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। 'वक्रोक्ति' अलंकार की आयोजना करने में उन्हें विशेष सफलता की उपलब्धि हुई है। वक्रोक्ति विधान से हमारा तात्पर्य वाणी की विशिष्ट भंगिमा से है। बिहारी अपनी सक्षम कल्पना एवं व्यापक अनुभूति के आधार पर भावों की इतनी सजीव योजना करते थे कि केवल अध्ययन मात्र से ही उस मुद्रा अथवा चेष्टा का एक साकार चित्र चक्षुओं के समक्ष उपस्थित हो जाता है। यह चित्रोपमता हिन्दी के किसी अन्य कवि में इतने सुन्दर रूप में उपलब्ध नहीं होती जितनी कि यह बिहारी के काव्य में विद्यमान है।

बिहारी ने अपने काव्य में वाग्वैदग्ध्य का अत्यन्त सफल निर्वाह किया है। वस्तुतः किसी कवि में वाग्वैदग्ध्य की जितनी अधिक क्षमता होगी उतना ही वह कवित्व के निर्वाह में सफल हो सकेगा। यद्यपि यह सत्य है कि कविता में भावों की श्रेष्ठता को प्राथमिकता प्रदान की जाती है, तथापि उन भावों का वहन करने वाली शैली को भी उतना ही उत्तम होना चाहिए, अन्यथा श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भाव भी अध्येता अथवा श्रोता के अन्तस् में भाव की उचित अनुभूति कराने में समर्थ नहीं हो सकता। बिहारी एक समर्थ प्रतिभावान कवि थे। यही कारण है कि उन्हें अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। यह उनके सफल वाग्वैदग्ध्य का ही परिणाम है कि उनके दोहों में अर्थ-द्योतन और समास-शक्ति, दोनों

का, सुन्दर सामंजस्य सम्भव हो सका है। इस दृष्टि से निम्नलिखित छन्द में उनका वाग्वैदग्ध्य निश्चय ही देखने योग्य है:—

त्यों-त्यों प्यासेई रहत, ज्यों-ज्यों पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४१७)

यहाँ 'सलोने' शब्द में कवि ने विशिष्ट चमत्कार का सन्निवेश किया है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि नमकीन वस्तु खाने से तृषा अधिक लगती है। यहाँ कवि ने रूप की तृषा के कभी न तृप्त होने का वर्णन करते हुए 'सलोना' शब्द को साभिप्राय प्रयुक्त किया है।

बिहारी का ज्ञान अत्यन्त प्रशस्त एवं गम्भीर था। उनके काव्य में इसके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट ने कवि के लिए काव्य के अनुशीलन के साथ-साथ शास्त्र और लोक का अध्ययन एवं निरीक्षण भी अत्यन्त आवश्यक माना है। वस्तुतः साहित्य के ज्ञान के अन्तर्गत सभी विषयों के ज्ञान का समावेश है, परन्तु हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि कवि स्थल-स्थल पर सप्रयास अपनी रचना में अपनी बहुज्ञता का प्रदर्शन किया करे। कवि का वास्तविक कौशल इसमें है कि उसकी रचना में इसका व्यापक ज्ञान इस रीति से अभिव्यक्त हो कि उसमें प्रयास का तनिक भी आभास उपलब्ध न हो सके। विश्व के विविध विषयों की अनुभूति को परिचित ज्ञान के साथ प्रेय-श्रेय रूप में व्यक्त करना ही वास्तविक कलाविद् का कार्य है। बिहारी निश्चय ही एक श्रेष्ठ कलाविद् थे। उनकी अनुभूति और उनका व्यापक ज्ञान उनकी सतसई में सहज ही बोधगम्य है। वस्तुतः उनकी रचना में काव्य की आत्मा पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। अधोलिखित दोहों में उनके दर्शन-शास्त्र के ज्ञान का स्पष्ट परिचय उपलब्ध होता है:—

में समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा १८१)

यद्यपि ब्रह्म के विषय का उपर्युक्त ज्ञान अपने में नितान्त गहन नहीं है और प्रायः प्रत्येक हिन्दू इससे पूर्ण परिचित है, किन्तु इसे अपने काव्य में इस प्रकार कुशलता से अभिव्यक्त करना निश्चय ही बिहारी की विलक्षण प्रतिभा का परिणाम है। इन दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, पुराण, राजनीति आदि अनेक विषयों ज्ञान का भी बिहारी ने अपने काव्य में सफलतापूर्वक परिचय दिया है आयुर्वेद के एक सिद्धान्त के अनुसार विषम ज्वर की औषधि सुदर्शन चूर्ण मानी गई है। इसी तथ्य को बिहारी ने श्लेष के सहयोग द्वारा अपने एक दोहे में अत्यन्त सुन्दर रीति से अभिव्यक्त किया है :—

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
जरी बिषम जुर जाइयें आइ सुदरसनु देहु ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा १२०)

वैसे तो बिहारी ने मूलतः शृंगार रसपरक काव्य-धारा का सृजन किया है, किन्तु उनकी सतसई में नीति-सम्बन्धी अनेक दोहे भी उपलब्ध होते हैं। उनमें नीतिपरक तत्व अपने चरम रूप में वर्तमान हैं और यही कारण है कि वे हमारे दैनिक जीवन में पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता से पूर्णतः युक्त हैं। बिहारी ने अपनी समर्थ प्रतिभा के बल पर अपने चतुर्दिक् वातावरण से कतिपय आदर्श सिद्धान्तों का संग्रहण किया है और उन्हें अध्येता के उपयोगार्थ अपने दोहों में प्रतिष्ठित किया है। यथा:—

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३२१)

इस प्रकार हमने देखा कि बिहारी की काव्य-धारा अत्यन्त उच्च कोटि की है। उसके अन्तर्गत काव्य के भाव एवं कला नामक दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। अपने युग-साहित्य से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी कवि ने अपनी मौलिक चेतना को सर्वत्र प्राथमिकता प्रदान की है। हिन्दी-साहित्य के परवर्ती कवि बिहारी के विशेष रूप से ऋणी हैं। उनके काव्य पर बिहारी की काव्यगत विशेषताओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उन्होंने सतसई के प्रणयन द्वारा हिन्दी में एक नूतन परम्परा का मार्ग प्रशस्त किया है। 'मतिराम-सतसई', 'श्रृंगार-सतसई', 'विक्रम-सतसई', 'वीर-सतसई', आदि समग्र परवर्ती सतसइयों पर 'बिहारी-सतसई' का प्रभाव है। न केवल भाषा-शैली, अपितु भावों के क्षेत्र में भी परवर्ती सतसईकारों ने 'बिहारी-सतसई' को अपने आदर्श ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया है। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य कवियों ने भी बिहारी के काव्य से प्रभाव ग्रहण किये हैं। उनमें पद्माकर, रसलीन एवं श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

ब्रजभाषा का संस्कार करने वालों में कविवर बिहारी ही प्रमुख हैं। उनके शब्दों में अर्थ का स्वतः भावन करने की शक्ति का सुन्दर सन्निवेश हुआ है। अन्ततः हम यह कह सकते हैं कि रस-प्रकर्ष की दृष्टि से सफल होने के अतिरिक्त शिल्प-विधान के दृष्टिकोण से भी महाकवि बिहारी का काव्य अत्यन्त सफल बन पड़ा है और हिन्दी के सतसई-काव्य में उनकी रचना को सहज ही मूर्धन्य पर स्थापित किया जा सकता है।

१४. देव और बिहारी का शृङ्गार-वर्णन

(मानव की अन्तर्चेतना अपने सहज रूप में सदैव सौन्दर्यमूलक तत्वों के प्रति सजग रहती है। शृंगार रस मानव की इस सौन्दर्य-प्रिय-वृत्ति को सर्वाधिक पोषण प्रदान करता है। संयोग और वियोग नामक दो पक्ष होने के कारण इसमें अन्तस् की अधिकाधिक वृत्तियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं। उसके मूल में उस रति-भाव का सन्निवेश रहता है जो आत्मा का मूल संस्कार है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने शृंगार रस को अन्य रसों के मूर्धन्य पर प्रस्थापित किया है। इस रस में अन्य समग्र रसों के स्थायी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है और वे अपने मूल रूप का परित्याग कर सहायक संचारी के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रस्तुत रस के अन्तर्गत जिस माधुर्य भाव का समावेश रहता है वह भी निश्चय ही अन्यत्र दुर्लभ है।

विश्व के सभी साहित्यों में शृंगार रस को प्रमुख स्थान उपलब्ध हुआ है और हिन्दी-साहित्य में भी इसकी प्राथमिकता के स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगत होते हैं। वैसे तो प्रायः प्रत्येक काल में यह प्रवृत्ति हिन्दी के कवियों को प्रेरणा प्रदान करती रही है। परन्तु रीतिकाल में इसे विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ। उस युग के प्रायः सभी कवियों ने हिन्दी-साहित्य की शृंगारिक परम्परा को विकासोन्मुख करने में योग-दान दिया है। इन कवियों में महाकवि देव तथा कविवर बिहारी का स्थान सर्वोपरि है। इन दोनों ही कवियों ने शृंगार के रसराजत्व को उन्मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हुए उसे अपनी मौलिक चेतना से अनुप्राणित कर काव्य की मूल वृत्ति के रूप में परिगृहीत किया है।)

(कवि के रूप में देव और बिहारी, दोनों ही मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न

थे। यद्यपि यह सत्य है कि उनके काव्य में अनेक स्थलों पर शैली-साम्य और कहीं-कहीं भाव-साम्य भी उपलब्ध होता है, तथापि यह समता किसी प्रकार के अनुकरणमूलक तत्त्वों पर आधारित न होकर केवल सहज संयोग का ही परिणाम है।

(बिहारी ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए 'दोहा' छन्द को लिया है जो एक अत्यन्त लघु छन्द है। इतना होते हुए भी उन्हें अपने लक्ष्य की पूर्ति में पूर्ण सफलता उपलब्ध हुई है। इस छन्द के सीमित आकार में ही उन्होंने असीमित भावनाओं का ध्वनन कर दिया है।) देव ने इसके स्थान पर 'कवित्त' छन्द का आश्रय ग्रहण किया है जो दोहे की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और जिसमें विषय-वर्णन के लिए अपेक्षाकृत अधिक अवकाश है। साहित्य-क्षेत्र में बिहारी ने केवल एक 'सतसई' का प्रणयन किया है, तथापि इस काव्य-कृति के द्वारा उन्हें इतनी ख्याति उपलब्ध हुई है कि उनकी गणना हिन्दी की शृंगारिक धारा के प्रतिनिधि कवियों में की जाती है। इसके विपरीत देव ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है और उनके माध्यम से उनकी शृंगारिक भाव-धारा अत्यन्त निखरे हुए रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है।

बिहारी और देव, दोनों ने ही (शृंगार रस को उसकी समग्रता में परिगृहीत किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ, दोनों ही पक्षों के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। संयोग शृंगार के अन्तर्गत रूप-चित्रण तथा अनुभाव-विधान के तत्त्वों को विशेष स्थान प्राप्त है। इनके उचित सन्निहन द्वारा काव्य में एक विशेष सौन्दर्य-श्री का संचरण होता है और रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है। देव और बिहारी, दोनों ही इस तथ्य से अवगत थे और यही कारण है कि उनके काव्य में इन तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है। रूप-चित्रण में उन्होंने नायिका की सर्वांग रूप-श्री का सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। यथाः—

देव:—

माखन सो तनु दूध सो जोबनु, है दधि ते अधिकौ उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छांछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कहि 'देव', बुझावत बैन वियोग अंगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहो क्यों न लगे मनमोहनै मीठी॥

बिहारी:—

हौं रीझी, लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति, मिलत मालती माल॥

प्रायः सभी शृंगारिक कवि रूप-चित्रण करते समय केवल नायिका की रूप-छवि का ही अंकन करते हैं और नायक के सौन्दर्य का सर्वथा विस्मरण कर बैठते हैं। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसका स्पष्ट विरोध किया है और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह सर्वथा अनुचित है। देव और बिहारी इस प्रकार के एकांगी दृष्टिकोण से सर्वथा पृथक् हैं और उन्होंने अपने काव्य में नायिका के अतिरिक्त नायक के सौन्दर्य का भी अत्यन्त सुन्दर रीति से वर्णन किया है। उनके नायक की रूप-श्री अपने आप में इतनी मनोरम है कि नायिका की चेतना उस पर तुरन्त मुग्ध हो जाती है। देव और बिहारी ने नायिका की इस मनोदशा का निम्नलिखित रीति से रस-चित्रण किया है :—

देव :—

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद विंदु के भाख्यो।
कंचुकी मैं चुपरो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार के चाख्यो।
सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यो॥

बिहारी:—

मोहूँ सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छवाइ छवि-गुर-डरी छले छबीलैं छैल॥

संयोग-वर्णन प्रायः दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म संयोग-वर्णन तथा स्थूल संयोग-वर्णन। सूक्ष्म वर्णन में प्रेम, मान आदि का वर्णन होता है तथा स्थूल में रति अथवा सम्भोग-क्रिया का वर्णन होता है। बिहारी के वर्णन पार्थिव स्थूल की अपेक्षा अपार्थिव सूक्ष्म अधिक हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने स्थूल संयोग का कहीं भी आश्रय नहीं लिया। वैसे उनके काव्य में रति-क्रिया की विभिन्न अवस्थाओं के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु संयोग शृंगार के सूक्ष्म चित्र उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में अंकित किये हैं। उनकी 'सतसई' में प्रेम, मान, हास, परिहास आदि का प्रचुर मात्रा में विश्लेषणात्मक उल्लेख हुआ है। देव के काव्य में स्थूल तथा सूक्ष्म, दोनों प्रकार के शृंगार-चित्र प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। दोनों के चित्रण में उनकी वृत्तियाँ समान रूप से उन्मुख रही हैं।

देव ने अपने काव्य में नायिका-भेद को बहुत महत्व प्रदान किया है। उन्होंने नायिका-भेद पर एक पृथक् रीति-ग्रन्थ का प्रणयन किया है और अपने शृंगारिक काव्य-ग्रन्थों में भी विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। बिहारी ने देव की भांति नायिका-भेद पर पृथक् कृति की रचना तो नहीं की है, तथापि उनकी 'सतसई' में खण्डिता, रूप-गर्विता, प्रोषितपतिका और प्रवत्स्यपतिका आदि विविध नायिकाओं के रस-स्निग्ध चित्र उपलब्ध होते हैं।

शृंगार रस को पूर्णता की अवस्था तक पहुँचाने के लिए काव्य में रूप-चित्रण के साथ-साथ अनुभाव-विधान का सहयोग भी विशेष अपेक्षित रहता है। वैसे तो देव और बिहारी, दोनों ने ही अनुभावों का सुन्दर विधान किया है, तथापि इस क्षेत्र में बिहारी का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। वस्तुतः अनुभावों के सुष्ठु आयोजन में वह नितान्त अद्वितीय रहे हैं और इस क्षेत्र में कोई भी अन्य कवि उनके समक्ष नहीं ठहरता। आलम्बन, अनुभावों एवं चेष्टाओं का अंकन करते समय उनकी प्रतिभा सदैव सजग

रही है और यही कारण है कि उन्होंने शृंगार रस को सफलतापूर्वक उसकी चरम परिणति प्रदान की है। अनुभावों की विविधता के एक ही स्थान पर संक्षिप्त समाहार द्वारा भी उन्होंने विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है। यथा:—

कर समेट कच भुज उलटि, खएँ सीस पटु टारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरा बांधनि हारि॥

देव ने भी संयोग शृंगार का चित्रण करते समय अनुभावों का पर्याप्त विस्तृत आयोजन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि बिहारी की भाँति वह इस क्षेत्र में अधिक विदग्धता का परिचय न दे सके हैं, तथापि प्रयत्न-पक्ष की दृष्टि से उनका अनुभाव-संयोजन अपने आप में पर्याप्त प्रभावोत्पादक है। कुछ स्थलों पर तो वह इतना मनोरम बन पड़ा है कि उनके सज्जा-कौशल पर अध्येता की चेतना तुरन्त मुग्ध होकर रह जाती है। उदाहरणार्थ एक स्थल पर विभिन्न गोपिकाएँ विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा कृष्ण को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती हैं। कोई अपनी मधुर वाणी द्वारा उन्हें प्रभावित करना चाहती है तो कोई चुम्बन, आलिंगन आदि विविध क्रियाओं का आश्रय लेती है :—

एकन बैनन ही ललचाय, लचाये एकन सैनन कै कै।
है गुलचाय लचाये लला, सु बचाये है ओठनि कै रस लैकै॥
एकहिं भेंटि दुहूँ भुज 'देव' हियौ दृग अंजन रंग उन्हें कै।
चंचल नैनी दृगंचल मोरि हँसे मुख रंचक अंचल दैकै॥

देव ने अपने काव्य में विभिन्न प्रेम-क्रियाओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। नायक द्वारा नायिका के चरणों में महावर और मस्तक पर बिन्दी लगाना तथा केश-सज्जा करना आदि अनेक क्रियाओं का उन्होंने अपने काव्य में उल्लेख किया है।

शृंगार रस में सखी अथवा दूती का विशेष महत्व होता है। उसके क्रियाकलाप अथवा सम्भाषणादि की चर्चा कर कवि अपने लक्ष्य की सिद्धि

में सहज ही सफल हो जाता है। देव तथा बिहारी दोनों ने ही सखी-सम्भाषण के माध्यम से अपनी शृंगारिक भाव-धारा की अभिव्यक्ति की है और यही कारण है कि उनके काव्य में शृंगार रस का पूर्ण उद्रेक हुआ है। उपमान-संकलन की दृष्टि से देव का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। उन्होंने अपनी नायिका की रूप-छवि का वर्णन करते समय नितान्त मौलिक उपमानों का आश्रय ग्रहण किया है। यथा:—

माखन सो तनु दूध सो जोबनु,
है दधि ते अधिकौ उर ईठी।

शृंगार-वर्णन को पूर्णता प्रदान करने के लिए उसके विप्रलम्भ-पक्ष का परिग्रहण नितान्त अनिवार्य है। वस्तुतः शृंगार के उत्कृष्ट रूप का सफल निखार उसके विप्रलम्भ-पक्ष में ही हो पाता है। इसका कारण यही है कि उसके अन्तर्गत शुद्ध और वासना-रहित प्रेम का सहज अन्तर्भाव रहता है। कवि समय से प्रभावित होने के कारण प्रायः कविगण वियोग के सहज चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ ऊहात्मक पद्धति का आश्रय ग्रहण कर अतिरंजित भाव-कथन भी करते हैं। यही कारण है कि उनके विरह-वर्णनों में कहीं-कहीं सूक्ष्म मार्मिकता का नितान्त अभाव हो जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि देव और बिहारी ने भी अपने विरह-चित्रों में पूर्वाग्रहों से प्रभावित होने के कारण अतिरंजना को स्थान दिया है, तथापि इतना निश्चित है कि अपने युग के अन्य कवियों की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति इस ओर कम रही है। बिहारी ने पत्रिका-प्रेषण तथा सन्देश-कथन में अनुभूति की मार्मिकता का विशेष अन्तर्भाव किया है। उनके काव्य के ऐसे स्थल अपने में पर्याप्त प्रभावोत्पादक हैं। यथा:—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सन्देसु लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात॥

वियोग के सामान्यतः चार रूप होते हैं—राग, मान, प्रवास एवं करुण। बिहारी ने वैसे तो चारों का चित्रण किया है, किन्तु प्रवास-विरह को उनके

काव्य में सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। वास्तव में इसके अन्तर्गत विप्रलम्भ शृंगार की समस्त सामग्री अत्यन्त सहज रीति से अन्तर्भूत हो जाती है। बिहारी की भाँति देव ने भी अपने काव्य में विरह की समग्र अन्तर्दशाओं का मार्मिक चित्रण किया है। ऊहात्मक शैली को विशेष महत्व न देने के कारण उनके विरह-चित्र प्रायः अतिरंजना से मुक्त रहे हैं। विरह की गम्भीर अवस्थाओं और मनोदशाओं के अंकन में उन्हें पर्याप्त सफलता की उपलब्धि हुई है। यथा:—

> बालम-विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
> बरि बरि उठै ज्यौं बरसै बरफराति।
> बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीत हूँ में,
> सति के सराप तन तापन तरफराति॥
> 'देव' कहें साँसन ही अँसुवा सुखात, मुख
> निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
> लौटि-लौटि परत करौट खाट पाटी लै-लै,
> सूखे जल सफरी ज्यों सेज पर फरफराति॥

इस प्रकार बिहारी और देव, दोनों ही शृंगार-युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य में शृंगार रस का पूर्ण प्रकर्ष उपलब्ध होता है। उक्त रस के इतिवृत्त का संयोजन करते समय उन्होंने इस बात का सर्वत्र ध्यान रखा है कि वह सहृदय जनों को रसमग्न करने की क्षमता से अनिवार्यतः युक्त हो। यद्यपि यह सत्य है कि रस के कुछ अंग देव के काव्य में अधिक सक्रिय रहे हैं और कुछ बिहारी के काव्य में तथापि समग्र रूप से मूल्यांकन करने के उपरान्त हम निःसंकोच कह सकते हैं कि दोनों कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार रस का सम आधार पर ही उद्भावन किया है। वास्तव में शृंगार के रस-क्षेत्र का प्रत्येक अणु उनके सम्मुख सहज स्पष्ट रहा है और हिन्दी में उसकी परम्परा को प्रेरित करने में उन्होंने यथाशक्ति योग-दान दिया है।

१५. भूषण का वीर-काव्य

हिन्दी की रीतिकालीन काव्य-धारा मे युगान्तर उपस्थित करने के कारण कविवर भूषण का महत्व अपने आप मे सर्वथा अप्रतिम है। वह एक प्राणचेता कवि थे और यही कारण है कि उनकी काव्य-चेतना पूर्वाग्रहों के बन्धनों मे विमुक्त रहकर सर्वत्र मौलिक भाव पर अवस्थित रही है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने अपने युगीन साहित्य मे अनेक सूत्रो का संग्रहण कर उन्हे अपने काव्य मे स्थान प्रदान किया है और कवि प्रकृति की दृष्टि से यह भावना नितान्त स्वाभाविक भी है, तथापि उन्होंने अपने मौलिक दृष्टिकोण को सर्वत्र प्राथमिकता प्रदान की है और इसी के परिणामस्वरूप उन्होने प्रत्येक ग्रहणीय तत्व को आत्मसात् करने के उपरान्त अपने काव्य में उद्भूत किया है। यही कारण है कि उनकी मौलिक विचार-धारा से पृथक् जो इतर भावनाएँ उनके काव्य मे समाविष्ट है, वे उनकी मूल विचार-सरणी से इस प्रकार एकरूप हो गई है कि उनका पार्थक्य लक्षित करना अत्यन्त कठिन है। भूषण अपनी मौलिक रुचि को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते थे और उसी के अनुसार उन्होने अपने काव्य में भाव एवं कला, दोनो पक्षो का मण्डन किया है। उन्होंने अपनी विशिष्ट रुचि के फलस्वरूप रीतिकाल मे प्रचलित विचार-तत्त्वो में से अधिकांश का परित्याग कर दिया है और जिन कतिपय तत्सदृश तत्वों को उन्होने अपनाया भी है उनके आयोजन मे उन्होंने विशेष तन्मयता का आश्रय नही लिया और इसी कारण उन्हें उनके परिग्रहण मे सफलता की उपलब्धि नही हो सकी।

रीतिकालीन कवि प्रायः हमारे समक्ष दो रूपों में उपस्थित हुए हैं,

एक कवि के रूप में दूसरे आचार्य के रूप में। यद्यपि बिहारी और घनानन्द जैसे कतिपय अपवाद-स्वरूप कवि भी इसी युग की विभूति है, अर्थात् उन्होंने केवल काव्य का प्रणयन किया है और आचार्य-कर्म में उनकी आत्म-वृत्तियों ने रमण नहीं किया, तथापि ऐसे साहित्यकारों की संख्या अपने आप में प्रायः नगण्य है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने साहित्यकार के उपर्युक्त दोनों रूपों को सुशोभित किया है। कविवर भूषण की गणना इसी प्रकार के साहित्यकारों में की जाती है। जहाँ उन्होंने एक ओर 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' जैसी सरस तथा ओजपूर्ण काव्य-कृतियों का प्रणयन कर हिन्दी की काव्य-विभूति को समृद्धि की ओर अग्रसर किया है, वहाँ दूसरी ओर 'शिवराज-भूषण' जैसे अलंकार-ग्रन्थ की रचना कर रीतिकाल की आचार्य-परम्परा के विकास में भी योगदान दिया है।

यद्यपि रीतिकालीन कवियों ने कवि-कर्म की पूर्ति करने के साथ-साथ काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन करने का भी प्रयास किया है, तथापि यह कार्य उनकी रुचि के अनुकूल नहीं था। यही कारण है कि उन्हें अपने लक्ष्य में सफलता की उपलब्धि नहीं हुई। उनके लक्षण-ग्रन्थ उनकी मौलिक चेतना के परिणाम न होकर संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों पर आधृत हैं। इतना ही नहीं, उनमें अपने आधार ग्रन्थों की सी सूक्ष्म चेतना का भी नितान्त अभाव है। वस्तुतः इन कवियों की रुचि मूलतः काव्य-प्रणयन की ओर थी, आचार्य-कर्म का निर्वहन उन्होंने केवल पूर्वाग्रहों से प्रभावित होने के कारण किया है। यही कारण है कि वे अपने निश्चित उद्देश्य की सम्पूर्ति में असफल रहे।

काव्य के विभिन्न अंगों के विषय में उनके द्वारा उपस्थित किये गये लक्षण प्रायः अपूर्ण तथा भ्रमोत्पादक हैं, किन्तु उन लक्षणों की पुष्टि के लिए उन्होंने जिन उदाहरणों की सृष्टि की है, वे अपने आप में अत्यन्त श्रेष्ठ तथा सरस हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वे मूलतः कवि थे और आचार्यत्व उनमें से अधिकांश की प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध था।

रीतिकालीन साहित्यकारों के विषय में किए गए उपर्युक्त विवेचन को हम कविवर भूषण के विषय में सर्वथा सत्य पाते हैं। 'शिवराज-भूषण' के प्रणयन द्वारा उन्होंने काव्य के 'अलंकार' नामक अंग पर विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु रुचि के प्रतिकूल होने से उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि नहीं हो सकी है। वस्तुतः लक्षण की अपेक्षा उनकी दृष्टि लक्ष्य पर ही अधिक रही है और इसी कारण अलंकारों के लक्षणों को उदाहृत करने के लिए प्रस्तुत किये गये उनके छन्द काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि उनके लक्षण सर्वथा भ्रामक अथवा व्यर्थ हैं; विद्यार्थियों की दृष्टि से उनकी महती उपयोगिता है। भूषण ने उनके माध्यम से अलंकार-वर्ग का सरल रीति से विवेचन प्रस्तुत किया है; फिर भी उनमें आचार्यत्व के वांछित गाम्भीर्य और सूक्ष्मता का इतना अधिक समावेश नहीं हो सका है। अतः इतना हम निःसंकोच कह सकते हैं कि रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति भूषण में भी आचार्य-प्रतिभा का अभाव था।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविवर भूषण को आचार्यत्व की दृष्टि से विशेष सफलता की उपलब्धि नहीं हुई है, तथापि काव्य के प्रणयन की दृष्टि से उनकी सफलता अप्रतिम है। इस दृष्टि से उनके 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' शीर्षक काव्य-ग्रन्थ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन दोनों में ही कवि की काव्य-विषयक विशिष्टताओं का सुन्दर प्रतिफलन हुआ है। इनके अतिरिक्त उनके 'शिवराज-भूषण' ग्रन्थ की समीक्षा भी काव्यत्व की दृष्टि से करनी ही उचित होगी। इसका कारण यही है कि प्रस्तुत कृति काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष के अधिक निकट है। उसके अन्तर्गत कवि की काव्यगत भावनाएँ अत्यन्त सुन्दर रीति से अवतीर्ण हुई हैं और उसमें काव्य-कला के प्रत्येक तत्त्व का सफल सन्निहन हुआ है।

भूषण ने अपने 'शिवाबावनी' नामक काव्य में केवल ५२ छन्दों द्वारा ही

महाराज शिवाजी के शौर्य से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का मनोहारी वर्णन किया है। इस काव्य में उन्होंने मुक्तक काव्य की संक्षिप्त कथन-प्रणाली को अपनाते हुए जिस विस्तीर्ण भाव-परम्परा को प्रत्येक पद में सुगुम्फित किया है, वह निश्चय ही हिन्दी के वीर-काव्य में अधिक प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार उन्होंने अपने 'छत्रसाल-दशक' शीर्षक काव्य में लगभग इसी प्रकार की कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है। इस कृति में उन्होंने बुन्देला नरेश महाराज छत्रसाल के शौर्य का उन्मुक्त कण्ठ से स्तवन किया है। यह कवि द्वारा प्रणीत दस उत्कृष्ट छन्दों का प्रभावोत्पादक संग्रह है। (बाबू हरदयालुसिंह ने अपनी 'भूषण-भारती' के छत्रसाल-दशक-विषयक प्रकरण में १६ छन्दों का समावेश किया है।) इसमें काव्य के विभिन्न सौन्दर्यमूलक तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

यद्यपि यह सत्य है कि रीतिकालीन काव्य की मूल ध्वनि शृंगार रस पर आधृत है और कालक्रम की दृष्टि से भूषण उसी युग के कवि ठहरते हैं, तथापि उनका वर्ण्य विषय अपने युगीन साहित्य के सर्वथा पृथक् है। उनकी आत्मवृत्तियाँ शृंगार रस की आकर्षक सरणियों में प्रवाहित होने की अपेक्षा वीर रस के ओजस्वी स्रोत में एकरूप होने की ओर अधिक उन्मुख रहती हें। इसी कारण उन्होंने वीर शिरोमणि महाराज शिवाजी और प्रख्यात वीर बुन्देलाधिपति महाराज छत्रसाल को अपने काव्य के आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित कर वीर रस से आप्लावित काव्य-धारा का उद्भावन किया। वह अपने चतुर्दिक् सदैव एक चेतन एवं सजीव वातावरण की अनुभूति पाते थे और यह उसी का परिणाम है कि उनके काव्य में वीर-रस की आत्मा इतने सजीव रूप में साकार हो सकी है। वीर-रस-विषयक सूत्रों की आयोजना करते संमय उन्होंने विशेष तन्मयता का आश्रय लिया। यही कारण है कि उन्हें अपने लक्ष्य की सम्पूर्ति में पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। वीर रस का 'उत्साह' नामक स्थायी भाव उनके काव्य में अथ से इति तक परिव्याप्त रहा है। भावना के इस विशेष प्रवाह की सिद्धि के

लिए उन्होंने कलातत्वों से भी उपयुक्त सहयोग लिया है अर्थात् उन्होंने प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि उनके काव्य का कला-पक्ष वीर रस के भावों के विकास में सहायता प्रदान करे।

भूषण ने अपने काव्य में वीर रस को प्रमुख स्थान प्रदान किया है और उनके काव्य के अध्ययन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उनकी चेतना वीर रस के क्षेत्र में अत्यन्त तन्मयता से रमण करती थी। उन्होंने अपने काव्य में वीर रस के सफल समावेश के लिए उसके सभी सहायक अंगों को उपयुक्त स्थान प्रदान किया है। रसानुकूल एवं ओजपूर्ण भाषा-शैली ने उनके काव्य को और भी अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। यही कारण है कि उनके काव्य में अध्येता की शौर्य-चेतना को उद्बुद्ध करने की क्षमता पूर्णतः वर्तमान है। वस्तुतः काव्य-प्रणयन करते समय उनका मूल उद्देश्य यही रहा है कि उसका सृजन इस प्रकार कुशल रीति से किया जाए कि वह अध्येता की शौर्य-वृत्ति को अधिकाधिक पोषण प्रदान कर सके। इस निश्चित लक्ष्य की सम्पूर्ति में कवि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का व्यय कर दिया है। यही कारण है कि उन्हें अपने लक्ष्य की उपलब्धि हो सकी है। उनकी 'शिवा-बावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक' नामक रचनाओं में संगृहीत कवित्त निश्चय ही अध्येता के मानस में 'उत्साह' भावना का ओजपूर्ण संचरण करते हैं। 'शिवराज-भूषण' के छन्दों में भी यह विशेषता अपने चरम रूप में वर्तमान है। जहाँ रीतिकाल के अन्य आचार्यों ने अपने लक्षणों को श्रृंगार रस के छन्दों से उदाहृत किया है, वहाँ भूषण ने अपने लक्षणों की पुष्टि के लिए वीर रसात्मक छन्दों की सृष्टि की है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपनी अन्य कृतियों की भाँति कवि-वर भूषण ने 'शिवाबावनी' में वीर रस को ही अधिक स्थान प्रदान किया है, रसोद्रेक की पूर्णता के लिए उन्होंने भयानक, वीभत्स एवं रौद्र आदि वीर रस के विभिन्न सहायक रसों को भी यथा-स्थान प्रयुक्त किया है। रीति-कालीन श्रृंगार-धारा से प्रभावित होने के कारण उन्होंने वीर रस के प्रसंगों

में श्रृंगार रस के प्रयोग के अवसरों को भी खोज निकाला है। श्रृंगार रस की यह अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप में न होकर सर्वत्र व्यंजनात्मक ही रही है अर्थात् कवि ने अपने पदों में यत्र-तत्र शत्रु-स्त्रियों के संयोग-काल की मधुरिम व्यंजना उपस्थित की है। शुद्ध श्रृंगार-चित्र न होने पर भी इस प्रकार के वर्णनों में रस की मधुर चेतना की स्थिति अवश्य रही है। उदाहरणार्थ शिवाजी के आक्रमण के उपरान्त शत्रु-पक्ष की स्त्रियों की स्थिति का निम्नलिखित करुणा-मिश्रित चित्रण देखिए:—

अन्दर ते निकसीं न मंदर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पाँव जाती हैं।
हवा हू न लगती ते हवा ते बिहाल भई,
लाखन की भीर में संभारतीं न छाती हैं॥
'भूषन' भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हार डारि चीर फारि मन झुंझलाती हैं।
ऐसी परी नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं॥
—(भूषण-भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या ८)

उपर्युक्त उद्धरण में शिवाजी की विजय मे पूर्व शत्रु-नारियों की जिस स्थिति का चित्र अंकित किया गया है, उसमें उनके विलास-सुख की व्यंजना स्पष्ट वर्तमान है। इन पंक्तियों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि इन स्त्रियों पर शिवाजी और उनकी सेना का व्यापक आतंक छाया हुआ है। वस्तुत: मानव के इस आतंकित रूप का चित्रण करना भूषण के काव्य का एक निहित उद्देश्य रहा है। अपने काव्य के आलम्बन-विशेष (महाराज शिवाजी अथवा छत्रसाल) के शौर्य का चित्रण करने के उपरान्त उनके आतंक का चित्रण करना उन्हें विशेषत: अभीष्ट रहा है। इस प्रकार के चित्रों में स्वभावत: भयानक रस से सम्बद्ध तत्वों का अनायास ही समावेश हो गया है, किन्तु इस प्रकार के तत्व कहीं भी प्रमुखतम अभिव्यक्ति प्राप्त

नहीं कर पाए हैं और अन्ततः उनके काव्य का उद्देश्य वीर रस का चित्रण करना ही रहा है। उपर्युक्त मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए आगे हम उनके काव्य से भयानक रस से परिपुष्ट एक उत्कृष्ट वीर रसात्मक छन्द उद्धृत करते हैं:—

रैया राय चंपति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत समसेर जोम जमकैं।
भादों की घटा सी उठीं गरदै गगन, घेरैं,
सेलैं समसेर फेरैं दामिनी सी दमकैं॥
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि-सुनि उर लागें घन कैसी घमकैं।
बैहर बगारन की अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥

—(भूषण-भारती, छत्रसाल-दशक, छन्द-संख्या ४)

यद्यपि भूषण ने यहाँ शत्रुओं पर छत्रसाल के आतंक का ही अंकन किया है और इस प्रकार यहाँ भयानक रस का प्रस्फुरण हुआ है, तथापि इस उद्धरण में भी वीर रस की ही प्राथमिकता रही है। यहाँ 'भय' स्थायी भाव 'उत्साह' भाव के समक्ष गौण ही रहा है।

इसके अतिरिक्त भूषण के काव्य में अनेक छन्द ऐसे भी हैं, जिनके प्रथम अवलोकन से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो इन छन्दों में भयानक रस स्वतन्त्र रूप से उद्भावित हो रहा है और इनके प्रणयन में कवि का मूल उद्देश्य अध्येता की 'भय' वृत्ति का स्पर्श करना रहा है, किन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा विलोम ही रही है। प्रत्यक्ष रूप में भयानक रस का प्रस्फुरण प्रतीत होने पर भी उन छन्दों में वीर रस ही प्रमुख रहा है। और उनमें 'भय' के स्थान पर 'उत्साह' स्थायी भाव ही अथ से इति तक व्याप्त रहा है। वस्तुतः महाकवि भूषण ने अपने काव्य में वीर रस के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाव को प्रमुख रूप में ग्रहण नहीं किया है।

उनका लक्ष्य मानव की सुषुप्त आत्मा को वीर रस के आख्यानमूलक अथवा भावमय मुक्तक छन्दों द्वारा इस प्रकार की सजगता प्रदान करना रहा है कि वह अपने रोम-रोम में निरन्तर नवीन उत्साह के स्पन्दन का अनुभव कर सके । यही कारण है कि उनका काव्य किसी प्रकार की कुण्ठित चेतना से अभिभूत नहीं हो पाया है । उदाहरणार्थ 'शिवराज-भूषण' से उद्धृत अधोलिखित छन्द देखिए:—

आवत गुसलखाने ऐसे कछु त्यौर, ठाने
जाने अवरंग जू के प्रानन को लेवा है ।
रस खोट भये ते अगोट आगरे में सातौं,
चौंकी डाँकि, आन घर, कीन्हीं हद्द रेवा है ।।
'भूषन' भनत वह चहूँ चक्क चाहि, कियो
पातसाहि चकता की छाती माहिं छेवा है ।
जान्यो न परत ऐसे काम हैं करत, कोऊ
गंधरव देवा है कि सिद्ध है कि सेवा है ।।
—(भूषण-भारती, शिवराज-भूषण, छन्द-संख्या २८)

जिन छन्दों में भूषण ने वीर रस को उसके शुद्ध रूप में परिगृहीत किया है, वे अपने आप में निश्चय ही अत्यन्त ओजस्वी बन पड़े हैं। वैसे तो कवि का लक्ष्य प्राय: प्रत्येक छन्द में मुखरित रहा है, किन्तु शुद्ध वीर रस-विषयक छन्दों में वह अपने चरम रूप में वर्तमान है। यह लक्ष्य उनके माध्यम से अध्येता के समक्ष अत्यन्त निखरे हुए रूप में उपस्थित होकर उसकी समग्र चेतना को अपनी ओर सहजतम रीति से आकृष्ट कर लेता है। कवि की प्रतिभा अपनी पूर्ण शक्ति के साथ अवतीर्ण होकर इन छन्दों को जैसे सजीव बना देती है। न केवल भाव एवं भाषा, अपितु शैली, गुण तथा वृत्ति आदि सभी उपयुक्त कला-तत्वों का भी इतना सुन्दर समन्वय इन छन्दों में उपलब्ध होता है कि रस विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव एवं संचारी भाव के समुचित सहयोग से अपने उद्रेक की चरम अवस्था

को प्राप्त कर लेता है यही कारण है कि इस प्रकार के छन्द अध्येता की उत्साह-वृत्ति का तुरन्त ही स्पर्श करते हैं और रस की दृष्टि से घनीभूत होकर उसके अन्तस् में पैठते चले जाते हैं। यथा:—

चलैं चन्दबान धनबान औ कुहुक बान रह्यो
चलत कमान घूम आसमान छै रह्यौ।
चेली जम डाढ़ै वाढ़वारैं तरवारैं जहां,
लोह आंच जेठ के तरनि मानु ह्वै रह्यो॥
ऐसे समय फौकुं विचलाइ छत्रसालसिंह,
अरि के चलाये पाय बीर रस च्वै रह्यौ।
हय चले हाथी चले संग छांड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो॥
——(भूषण-भारती, छत्रसाल-दशक, छन्द-संख्या १४)

साहित्य-शास्त्रियों के अनुसार 'उत्साह' नामक भाव वीर रस का प्राण-तत्त्व है। प्रस्तुत भाव का विकास केवल-मात्र युद्ध में वीरता के प्रदर्शन से ही नहीं होता, अपितु दान, धर्म आदि अन्य अनेक क्षेत्रों में भी यह वृत्ति अपने शुद्ध रूप में परिव्याप्त रहती है। 'उत्साह' वृत्ति की इसी व्यापकता को लक्ष्य में रखते हुए आचार्य विश्वनाथ ने वीर रस को उसके प्रचलित अर्थ में ग्रहण करने के अतिरिक्त उसे अनेक सूक्ष्म भेदों में विभाजित किया है। उन्होंने अपनी 'साहित्य-दर्पण' नामक संस्कृत की प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्रीय रचना में वीर रस के 'युद्ध वीर', 'दया वीर', 'धर्म वीर', एवं 'दान वीर' नामक चार भेदों की चर्चा की है। वीर रस को उसकी समग्रता में ग्रहण करने के लिए इन चार रूपों का परिग्रहण नितान्त अनिवार्य है अन्यथा काव्य में एकांगिता का दोष आ जाएगा। कतिपय कवि संकुचित दृष्टिकोण से युक्त होने के कारण केवल युद्ध-वीरत्व को ही वीर रस की कारण-सामग्री के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं और काव्य-प्रणयन करते समय केवल उसी को दृष्टिपथ में रखते हैं, किन्तु

वस्तुतः ऐसा करना मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र, दोनों की दृष्टि से अनुचित है। सन्तोष का विषय है कि कविवर भूषण इस प्रकार की संकुचित भाव-धारा से युक्त नहीं रहे। उनके काव्य-नायक महाराज शिवाजी और छत्रसाल के जीवन में उपर्युक्त चारों प्रकार की शौर्य-भावना का सहज समावेश उपलब्ध होता है। उन्होंने इसकी अभिव्यक्ति के लिए एक ओर तो अपने काव्यालम्बनों के जीवन की इस विषय से सम्बद्ध घटनाओं का आख्यान किया है और दूसरी ओर इससे भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उन जीवन-विभूतियों के सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत मन्तव्य का संस्थापन किया है। अतः यह स्पष्ट है कि भूषण के काव्य में हमें वीर रस के प्रत्येक प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित छन्द में महाराज शिवाजी की दान-वीरता की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है :—

साहि-तनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हें पाय होत कविराज बे फिकिरि हैं।
भूलत झलमलात झूलें जरबाफन की,
जकरे जँजीर जोर करत किरिरि हैं॥
'भूषन' भँवर भनभनात, घनघनात घंट,
पग झननात मनो घन रहे घिरि ह ।
जिनकी गरज सुने दिग्गज बे आब होत,
मद ही के आब गरकाब होत गिरि हैं॥
(भूषण-भारती, शिवराज-भूषण, छन्द-संख्या १४५)

इसी प्रकार अधोलिखित कवित्त में शिवाजी की धर्म-वीरता एवं [यु]द्ध-वीरता की सम्मिलित व्यंजना देखिए:—

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे बेद बिधि सुनी में।

राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में ।।
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानि तब सुनी में ।
साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में ।।
--(भूषण भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या ४८)

वीर रस के 'युद्ध-वीर' नामक प्रकार की सफलता के लिए यह नितान्त अनिवार्य है कि काव्य में अन्य अनेक वस्तुओं के साथ-साथ युद्ध-स्थल की स्थिति का भी सजीव वर्णन किया जाए। यद्यपि यह सत्य है कि इसके अभाव में भी कवि अपने काव्य में वीर रस की सृष्टि करते हैं और केवल आलम्बन तथा आश्रय के विश्लेषणात्मक उल्लेख में ही कवि-कर्म की इति श्री समझ लेते हैं, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि उनके वर्णन में वह प्राण-चेतना कदापि नहीं आ पाती जो वीर रस के सफल परिपाक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भूषण इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में जहाँ एक ओर आलम्बन एवं आश्रय के पराक्रम का सुन्दर चित्रण किया है वहाँ दूसरी ओर युद्ध के वातावरण की भी अत्यन्त सजीव आयोजना की है। यद्यपि अंग्रेजी कवि सर वाल्टर स्कॉट के समान उन्होंने किसी युद्ध का जमकर वर्णन नहीं किया है और मुक्तक-काव्य के क्षेत्र में ऐसा कर सकना सम्भव भी नहीं था, तथापि मुक्तक-काव्य में वर्णन के जितने अंश की अनिवार्यतः अपेक्षा रहती है, उसकी उन्होंने अत्यन्त श्रेष्ठ अवतारणा की है। यही कारण है कि उन छन्दों का अध्ययन करते समय अध्येता के कल्पना-लोक में सहसा वस्तु-स्थिति का एक ओजस्वी चित्र अंकित हो जाता है और उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह अध्ययन के स्थान पर तत्कालीन वस्तु-स्थिति का साक्षात् दर्शन कर रहा हो। यथा--

भूप सिवराज कोप करी रनमंडल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकता के दरबारे में।
काटे भट बिकट औ गजन के सुंड काटे,
पाटे रनभूमि, काटे दुवन सितारे में॥
'भूषन' भनत चैन उपजे सिवा के चित्त,
चौंसठ नचाई जबै रेवा के किनारे में।
आँतन की ताँत बाजी खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में॥
——(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या २९)

भूषण ने शिवाजी एवं छत्रसाल द्वारा युद्ध में सफलता प्राप्त करने का अधिकांश श्रेय उनके शस्त्रों को प्रदान किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे अपने काव्य-नायकों को सर्वथा निर्बल तथा अल्प-शक्ति सम्पन्न समझते हैं और उनके शस्त्रों को ही सर्वेसर्वा मानते हैं। अपितु उनका विश्वास है कि जो शस्त्र उनके नायकों द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं, उनमें सामान्य शस्त्रों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य होती है और वे सहर्ष ही शत्रु का विनाश करने में सफल होते हैं। यही कारण है कि जहाँ अपने काव्य के अनेक छन्दों में उन्होंने महाराज शिवाजी एवं छत्रसाल के पराक्रम का वर्णन किया है वहाँ कतिपय छन्दों में उनकी तलवार तथा बर्छी आदि शस्त्रों की अद्भुत क्षमता का भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द में उन्होंने महाराज छत्रसाल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है :—

निकसत म्यान ते मयूखें प्रलैभानु कैसी,
फारे तम-तोम से गयंदन के जाल को।
लागत लपटि कंठ बैरिन के नागिनि सी,
रुद्रहि रिझावे दै दै मुंडन की माल को॥

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को ।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देत काल को ।।
—(भूषण-भारती, छत्रसाल-दशक, छन्द-संख्या १२)

इसी प्रकार अधोलिखित छन्द में कवि ने महाराज शिवाजी की असि को कृष्णवर्ण सर्पिणी से भी अधिक भयानक सिद्ध करते हुए उसके असाधारण कार्यों का अत्यन्त सजीव तथा किंचित् मात्रा में अतिरंजित वर्णन किया है:—

मारे दल मुगुल तिहारी तरवार आज,
उछलि बिछलि म्यान बामी से निकासती ।
तेरी तलवार लागे दूसरी न मांगे कोऊ,
काटि के करेजा स्रोन पीवत बिनासती ।।
साहि के सपूत महाराज सिवराज बीर,
तेरी तलवार स्याह नागिन ते जासती ।
ऊँट हय पैदल सवारन के झुंड काटि,
हाथिन के मुंड तरबूज लौं तरासती ।।
—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या ३०)

प्राय: समग्र रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करते समय अतिरंजना का आश्रय ग्रहण किया है । यहां तक कि ऐसा करते समय वे अपने आश्रयदाता राजा के प्रतिपक्षी राजा के इतिहास-विख्यात बल का सर्वथा विस्मरण कर बैठे हैं और उन्होंने उन्हें अपने काव्य-नायक के समक्ष नितान्त निर्बल एवं मूर्ख सिद्ध करने का प्रयास किया है । यह भावना मनोविज्ञान तथा न्याय-शास्त्र, दोनों की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है और इसको प्रश्रय प्रदान करने वाले कवि के साथ अध्येता का साधारणीकरण कदापि नहीं हो सकता । यद्यपि काल-क्रम की दृष्टि से कविवर

भूषण का परिगणन रीति-धारा के ही अन्तर्गत किया जाता है, तथापि सन्तोष का विषय है कि वह इस प्रकार की दूषित प्रवृत्ति से सर्वथा पृथक् हो रहे हैं। यद्यपि यह सत्य है कि उनका प्रमुख लक्ष्य छत्रपति शिवाजी एवं बुन्देलाधिपति महाराज छत्रसाल के शौर्य का स्तवन करना था और उनके काव्य में हमें स्पष्ट ही इसके दर्शन होते हैं तथापि उनके प्रतिपक्षी नरेशों के बल एवं प्रताप का चित्रण करते समय भी उन्होंने उनके प्रति किसी प्रकार के हीन दृष्टिकोण का परिचय नहीं दिया। जिस सत्यता एवं निश्छलता से उन्होंने शिवाजी के बल की प्रशंसा की है, प्रायः उसी सरलता एवं निष्कपटता से उन्होंने मुगल-सम्राट् औरंगजेब के पराक्रम का भी गान किया है। इतना होते हुए भी उनके लक्ष्य की अक्षुण्णता सर्वथा अखण्ड रही है। वस्तुतः इस प्रवृत्ति ने उनके लक्ष्य की पूर्णता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न कर उसका विकास-साधन ही किया है। इसका कारण यही है कि प्रतिपक्षी के शौर्य का पूर्ण चित्रण करने के उपरान्त यदि कोई कवि अपने काव्य नायक की विजय का वर्णन करता है तब वह विजय स्वभावतः साधारण न रह कर विशिष्ट रूप धारण कर लेती है। इससे कवि के अभीष्ट की भी पूर्ति हो जाती है और काव्य में उन गुणों के अतिरिक्त मनोविज्ञान की यथार्थता का भी सन्निवेश हो जाता है।

यदि काव्य-प्रणयन करते समय अतिरंजना पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाए तो ऐतिहासिक तत्वों का यथातथ्य पालन कदापि नहीं हो सकता। इसका कारण यही है कि अतिरंजित तत्वों के समक्ष ऐतिहासिक तथ्य अपना अस्तित्व विलुप्त कर बैठते हैं और फिर काव्य में उनकी उपस्थिति रहते हुए भी अध्येता को उसका ज्ञान नहीं हो पाता। भूषण के उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने इतिहास का सूक्ष्म अर्थों में निर्वाह न करने पर भी स्थूलतः इतिहास-निर्वाह की चेष्टा अवश्य की है। यत्र-तत्र अतिरंजित कथन करने पर भी उन्होंने प्रायः कहीं भी इतिहास-विरुद्ध उल्लेख नहीं किये हैं। सत्य तो यह है कि

उनके अतिरिक्त किसी भी अन्य रीतिकालीन कवि के काव्य में ऐतिहासिकता के दर्शन नहीं होते। भूषण ने अपनी सक्षम काव्य-प्रतिभा के माध्यम से अपने काव्य-नायकों से सम्बद्ध समग्र मुख्य ऐतिहासिक तथ्यों को अपने काव्य में साकार कर दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की मुक्तक विधा का परिग्रहण करने के कारण उनके काव्य में केवल मुख्य-मुख्य राजनीतिक घटनाओं को ही स्थान प्राप्त हुआ है तथापि यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा उनकी स्थिति अधिक सुदृढ़ रही है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द में कवि ने शिवाजी एवं औरंगजेब की दिल्ली में भेंट का वर्णन करते हुए औरंगजेब द्वारा शिवाजी के अपमान और शिवाजी पर उसके प्रभाव का अत्यन्त युक्ति-युक्त एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया है:—

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबि के जोग,
ताहि खरो कियो छै हजारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल गुसैला गुसा धारि उर,
कीन्ह्यो न सलाम न वचन बोले सियरे॥
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लागे,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे॥
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे॥
—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या १६)

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि भूषण रीतिकाल की अत्यधिक प्रचलित ऊहात्मक पद्धति के प्रति सर्वथा उदासीन रहे हैं और उन्होंने अपने काव्य में इसका कहीं भी परिग्रहण नहीं किया है। प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य में ऊहात्मक शैली को विशेष प्रश्रय प्रदान करते हुए शृंगार रस के संयोग तथा विप्रलम्भ, दोनों पक्षों में इसका सन्निवेश किया है। यद्यपि महाकवि भूषण अपने काल की शृंगारिक

धारा से विलग रहे, तथापि उन्होंने भी युग के प्रभाववश अपने वर्ण्य क्षेत्र में अतिरंजना का परिग्रहण किया है। उनका काव्य मुख्यतः शिवाजी एवं छत्रसाल के शौर्य एवं उनके विभिन्न युद्धों से सम्बद्ध रहा है और उन्होंने इन्हीं सरणियों में ऊहात्मक पद्धतियों को सफल विकास प्रदान किया है। उदाहरणार्थ उनकी अधोलिखित पंक्तियों में शिवाजी के रण-शौर्य का अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण अंकन देखिए :—

साहि के सपूत रन सिंह सिवराज वीर,
बाही समसेर सिर सत्रुन पै कढ़ि कै।
काटे वे कटक कटकिन के विकट भूपें,
हम सों न जात कह्यो सेष सम पढ़ि कै॥
पारावार ताहि को न पावत है पार कोऊ,
स्रोनित समुद्र यह भाँति रह्यो बढ़िकै।
नाँदिया की पुच्छ गहि पैरिकै कपाली बचे,
काली बची मांस के पहार पर चढ़ि कै॥
—(भूषण-भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या २८)

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर भी भूषण ने अतिरंजना को अपनाया है। इनके अतिरिक्त कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जहाँ उन्होंने इस शैली को उसके चरम रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार के छन्दों का अध्ययन करते समय कभी-कभी तो सहसा ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो भूषण तथा अन्य रीतिकालीन कवियों में तनिक भी अन्तर नहीं है, किन्तु वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा पृथक् है। भूषण ने ऊहात्मक शैली का परिग्रहण अवश्य किया है तथापि उनके ऊहात्मक वर्णनों का रीतिकाल के अन्य कवियों के अतिरंजित वर्णनों से शैली के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि भूषण इस क्षेत्र में उनके सहयोगी होने पर भी उनसे नितान्त भिन्न हैं। इस भिन्नता का मूलाधार मिथ्या कथन है अर्थात् जहाँ अन्य कवियों ने प्रायः ऊहा में मिथ्या की अधिक चिन्ता नहीं की है वहाँ भूषण

इस प्रवृत्ति से सर्वथा पृथक् रहे हैं और उन्होंने वास्तव के परिग्रहण का सदैव ध्यान रखा है। शौर्य का चित्रण करते समय भूषण ने जिस अतिरंजना का परिचय दिया है, वह अधिक चिन्तनीय नहीं है। इस प्रकार का चित्रण उसके काव्य का दूषण न होकर भूषण ही माना जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविवर भूषण ने भाव-पक्ष के क्षेत्र में प्रायः अपने युग से भिन्न उपादानों को स्वीकार किया है। इसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक नवीन प्रयोग किये हैं। यद्यपि अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने भी काव्य की प्रबन्ध-विधा का स्पर्श न कर उसकी मुक्तक शैली को ही विकास की ओर अग्रसर किया है, तथापि इस क्षेत्र में भी उन्होंने प्रायः अपनी मौलिक चेतना का सफल परिचय दिया है। कला-क्षेत्र में काव्य के सौष्ठव को अभिवृद्ध करने के कारण साहित्य-शास्त्रियों ने अलंकारों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनकी अत्यधिक भरमार से काव्य का सहज सौन्दर्य सर्वथा विनष्ट हो जाता है, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि उनका समुचित प्रयोग काव्य में एक अपूर्व सौन्दर्य का संच-रण कर देता है। यद्यपि भूषण अलंकार-शास्त्र के अच्छे मर्मज्ञ थे और उन्होंने अपने 'शिवराज-भूषण' में प्रायः सभी अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथापि उन्होंने सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त रहते हुए भी अलंकारों को साधन एवं काव्य को साध्य माना है। यही कारण है कि उनके काव्य का नैसर्गिक सौष्ठव अधिकांश रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्मूलन की ओर उन्मुख न होकर परिवर्द्धन की ओर अग्रसर रहा है। एक ओर जहाँ वह चमत्कार की सृष्टि करने में पूर्ण सक्षम हैं, वहाँ दूसरी ओर वह भाव की चारुता को भी पर्याप्त गति प्रदान करता है।

महाकवि भूषण ने अपने काव्य में वैसे तो 'शिवराज-भूषण' में अलं-कारों को उदाहृत करने के कारण सभी अलंकारों का प्रयोग किया है, किन्तु उनकी 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' नामक काव्य-रचनाओं तथा

अन्यान्य स्फुट छन्दों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने अधिकतर 'यमक', 'अनुप्रास', तथा 'पुनरुक्ति-प्रकाश' नामक शब्दालंकारों और 'उपमा', 'रूपक', उत्प्रेक्षा' तथा 'अप्रस्तुत प्रशंसा' आदि अर्थालंकारों का ही प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उन्होंने अत्यन्त कौशलपूर्वक विभिन्न अलंकारों को एक ही छन्द में समाहारित भी कर दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द में 'उपमा', 'रूपक','पुनरुक्ति-प्रकाश' और'भ्रम' आदि अनेक अलंकारों के प्रयोग से भाव की रमणीयता का परिवर्द्धन देखिए:—

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार,
चार को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।
ऐसी अरि-नारी सिवराज बीर तेरे त्रास,
पायन में छाले परे कन्द मूल खाती हैं॥
ग्रीषम तपनि ऐसी तपति न सुनी कान,
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं।
तोरि-तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख,
कहैं सब कहा पानी मुकतों में पाती हैं॥
—(भूषण-भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या १०)

अलंकार-प्रयोग की भाँति भूषण ने अपने काव्य में भाषा की विशिष्ट रसानुकूल स्थिति और शैली की अनेकता की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। उनकी भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा रही है, किन्तु उन्होंने उसमें आवश्यकतानुसार विभिन्न विदेशी तथा प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी समावेश कर लिया है। शैली की दृष्टि से भी उन्होंने वर्णनात्मक, ऊहात्मक, विवरणात्मक, सम्बोधनात्मक आदि विविध शैलियों का सफल प्रयोग किया है। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने केवल 'दोहा' तथा 'कवित्त' नामक छन्दों में ही अपने काव्य के मुख्य भाग की रचना की है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भषण ने अपनी काव्य-धारा के

माध्यम से रीतिकाल की रूढ़िबद्ध कविता म एक नूतन चेतना का संचरण किया है। उनके काव्य की ओजमूलक ध्वनि कायर के अन्तस् में भी शौर्य का उद्भावन कर उसे एक नूतन गति प्रदान करती है। उन्होंने अपने काव्य के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष को समृद्ध करते समय वीरगाथा-काव्य की प्रचलित परम्परा को ग्रहण करते हुए भी जिस स्वतन्त्रता, मौलिकता और यत्र-तत्र परम्परा-त्याग की दृढ़ता का परिचय दिया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है।

१६. 'शिवा-बावनी' में काव्य-तत्व

'शिवा-बावनी' कविवर भूषण द्वारा प्रणीत बावन स्फुट छन्दों का एक सुन्दर आकलन-ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत कवि ने महाराज शिवाजी की शौर्यपरक भावना को व्यापक रूप में अभिव्यक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है। रसानुकूल एवं ओजपूर्ण भाषा-शैली के उपयुक्त आयोजन के कारण भूषण अपने लक्ष्य की सम्पूर्ति में सफल हुए हैं। आकार की दृष्टि से लघुकाय होते हुए भी यह कृति भूषण की समस्त रचनाओं में एक विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है। इसके अन्तर्गत कवि की काव्य-सम्बन्धी समग्र विशिष्टताओं का प्रतिफलन हुआ है।

यद्यपि काल-क्रम की दृष्टि से कविवर भूषण का परिगणन रीति-धारा के अन्तर्गत ही किया जाता है, तथापि उनका वर्ण्य-विषय अपने युग से सर्वथा भिन्न है। रीतिकालीन काव्य की मूल चेतना शृंगार है, किन्तु भूषण को वीर रस ही अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। इसी हेतु उन्होंने वीर-शिरोमणि महाराज शिवाजी को आश्रय एवं औरंगजेब को आलम्बन के रूप में स्वीकृत करके वीर रसात्मक काव्य का सृजन किया। वीर-रस-विषयक भावनाओं को अवतरित करते समय कवि की वृत्तियाँ काव्य की ओर विशेष रूप से उन्मुख रही हैं। 'उत्साह' नामक स्थायी भाव से अनुप्राणित होने के कारण उनके काव्य में सजीवता का पूर्ण समावेश हुआ है। इसके साथ ही उनकी भावानुगामिनी भाषा एवं प्रवाहपूर्ण शैली ने भी रस के निष्पादन में यथा-सम्भव योग प्रदान किया है। वस्तुतः भूषण ने वीर रस की निष्पत्ति के लिए समस्त उपयुक्त उपादानों का अत्यन्त सफल आयोजन किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में

वीर रस का यथेष्ट परिपाक दृष्टिगत होता है।

'शिवा-बावनी' में वीर रस के अतिरिक्त रौद्र, भयानक एवं वीभत्स आदि अन्य सहयोगी रसों का भी सन्निहन हुआ है। इनके अतिरिक्त कतिपय छन्दों में शृंगार रस को भी प्रश्रय प्राप्त हुआ है। यद्यपि अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस अत्यन्त अल्प मात्रा में ही प्रयुक्त है और उसका स्थान भी रसात्मकता की दृष्टि से नितान्त गौण है, तथापि भूषण उसके उद्रेक का विधान करने में सफल नहीं रहे हैं। शिवाजी के व्यापक आतंक का चित्रण करते समय शत्रु-स्त्रियों की पूर्व एवं परकालीन परिस्थिति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भूषण शृंगारिक चेतना की ओर विशेष रूप से उन्मुख रहे हैं। यही कारण है कि इस प्रकार के छन्दों में शृंगार रस की अत्यन्त श्रेष्ठ उद्भावना हुई है। यथा:—

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार,
चार को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।
ऐसी अरि नारी सिवराज बीर तेरे त्रास,
पायन में छाले परे कन्द मूल खाती हैं॥
ग्रीषम तपनि ऐसी तपति न सुनी कान,
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं।
तोरि तोरि आछे से पिछौरा निचोरि मुख,
कहैं सब कहा पानी मुकतों में पाती हैं॥

—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या १०)

यद्यपि भूषण का मूल उद्देश्य महाराज शिवाजी की शौर्य-वृत्ति का स्तवन करना ही था, तथापि उन्होंने शुद्ध वीर रस के छन्दों का इतनी अधिक मात्रा में प्रणयन नहीं किया। वस्तुतः वह शिवाजी के आतंक का चित्रण करने को ही अपनी लक्ष्य-पूर्ति का सर्वाधिक उपयुक्त साधन मानते थे। यही कारण है कि 'शिवा-बावनी' में संख्या की दृष्टि से भयानक रस के छन्द ही अपेक्षाकृत अधिक हैं, परन्तु फिर भी हमारी सम्मति में प्रस्तुत

कृति का प्रमुख रस वीर ही है, क्योंकि भयानक रस स्वतन्त्र रूप में उद्-भावित न होकर प्रायः प्रत्येक स्थल पर वीर रस के सहयोगी रस के रूप में ही प्रस्फुटित हुआ है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा :—

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग पर उग्ग नाचे रुंड मुंड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीत के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके॥
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लग फिरन सितारा गढ़धर के।
बीजापुर बीरन के गोलकुण्डा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके॥

—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या ३१)

यहाँ समग्र छन्द में उत्साह-भावना को ही प्रमुख स्थान की उपलब्धि हुई है। 'भय' नामक स्थायी भाव उसके समक्ष नितान्त गौण है। कतिपय स्थलों पर भयानक रस स्वतन्त्र रूप में संचरित होता हुआ-सा भी प्रतीत होता है, किन्तु प्रच्छन्न रूप में वहाँ भी वीर रस की ही अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः कवि की दृष्टि सदैव अपने लक्ष्य पर ही केन्द्रित रही है और यही कारण है कि उनका काव्य अध्येता के मानस-पक्ष को प्रभावित करने में पूर्णतः सक्षम रहा है। वीर रस के शुद्ध स्वरूप से सम्बन्धित छन्दों का श्रवण एवं अध्ययन करते समय उनका लक्ष्य हमारे सम्मुख और भी अधिक निखरे हुए रूप में उपस्थित होता है। ऐसे स्थलों पर भाव, भाषा, शैली, वृत्ति एवं गुण के समुचित समन्वय ने रस-प्रकर्ष में अत्यधिक सहयोग प्रदान किया है। यही कारण है कि इस प्रकार के छन्द अथ से इति तक उत्साह वृत्ति से अनुप्राणित रहे हैं। इस प्रसंग में अधोलिखित उदाहरण दृष्टव्य है:—

छूटत कमान और गोली तीर बानन के,
होत कठिनाई मुरचानहू की ओट में।

ताहि समय सिवराज हाँक मारि हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला बीरवर जोट में ॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति यहाँ लगि है जाकी झट झोट में ।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परे कोट में ॥

उत्साह का विकास केवल युद्ध-क्षेत्र में शौर्य के प्रदर्शन से नहीं होता, प्रत्युत दया, दान एवं धर्म आदि में भी यही भावना मानव की अन्तर्चेतना को प्रेरक-शक्ति के रूप में संचालित करती है। इसी कारण साहित्य-दर्पणकार ने वीर रस के चार भेद स्वीकृत किये हैं—युद्धवीर, दयावीर, धर्म-वीर एवं दानवीर। महाराज शिवाजी के जीवन में चारों प्रकार की वीरता समाविष्ट थी। अतः भूषण के काव्य में वीर रस के प्रत्येक प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ 'शिवा-बावनी' से उद्धृत अधोलिखित छन्द में शिवाजी की धर्मवीरता का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है:—

वेद राखे बिदित पुरान राखे, सार-युत,
राम नाम राख्यो आनि रसना सुघर में ।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखि है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में ॥
मोड़ि राखे मुगुल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीस राखे बरदान राख्यो कर में ।
राजन को हद्द राखो तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में ॥
—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या ४८)

यद्यपि भूषण का उद्देश्य सदैव शिवाजी के यश एवं पराक्रम का वर्णन ही रहा है, तथापि उनके प्रत्यर्थी औरंगजेब के प्रताप का अंकन करते समय भी उन्होंने किसी प्रकार के शैथिल्य का परिचय नहीं दिया। इतना

ही नहीं, प्रत्युत कहीं-कहीं उन्होंने प्रतिनायक के प्रभाव को अतिशयोक्ति से वर्णित किया है, किन्तु यह उनके उद्देश्य की सम्पूर्ति में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुआ है। वह प्रायः छन्द की प्रथम पंक्तियों में औरंगजेब के पराक्रम का चित्रण करके अन्तिम पंक्तियों मे विजेता नायक के उत्कर्ष का विधान करते हैं। इससे कविता का लक्ष्य अत्यन्त सहज रूप में ही पूर्ण हो जाता है :—

जिन फन फुतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल विदलिगो।
विष ज्वाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
जिनतें चिकारी मद दिग्गज उगलिगो॥
कीन्ह्यो जिन पान पयपान सो जहान सब,
'भूषन' भनत सिन्धु जल थल हालिगो।
खग्ग खगराज महाराज सिवराज तेरो,
अखिल मुगल दल नाग को निगलिगो॥
—(भूषण-भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या ३८)

भाव-पक्ष के अतिरिक्त कला-क्षेत्र में भी भूषण ने अपने काव्य के लिए रीतिकालीन युग से इतर उपादानों का परिग्रहण किया है। तत्कालीन कवि मुक्तक काव्य के क्षेत्र में 'सतसई' एवं 'हजारा' आदि की रूढ़िगत परम्परा का ही परिपालन कर रहे थे, किन्तु भूषण की मौलिक चेतना इस प्रकार के पिष्टपेषण की परिधि में आबद्ध नहीं हो सकी। अतः उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए 'शिवा-बावनी' एवं 'छत्रसाल-दशक' का प्रणयन करके हिन्दी-साहित्य को नूतन विधाएँ प्रदान कीं।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि भूषण अपने युग की प्रवृत्तियों से सर्वथा पृथक् रहे। इस प्रकार की संभावना असत्य और निरर्थक ही होगी। प्रत्येक कवि अपने युग में परिव्याप्त चेतना से किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः प्रभावित होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-

साहित्य में सर्वाधिक क्रान्तिकारी व्यक्ति थे, परन्तु वह भी रीतिकालीन काव्य की शृंगारिक भावना के प्रति नितान्त विरक्त दृष्टिकोण का अव-धारण न कर सके। इतना होने पर भी एक नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि परम्परागत काव्य-पद्धतियों में मर्यादित रहते हुए भी अपनी मौलिकता का परिचय देता है। कविवर भूषण इसी प्रकार के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। रीति युग की अधिकांश प्रवृत्तियों का प्रायः उन्होंने परित्याग कर दिया है, तथा जिन कतिपय प्रवृत्तियों का परिग्रहण भी किया है, उनमें भी उनकी मौलिक भावना पर्याप्ततः सन्निविष्ट है।

यद्यपि रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों में से शृंगारिक वर्णन के प्रति भूषण उपेक्षा की भावना से प्रेरित रहे, तथापि रीति-निरूपण की प्रवृत्ति ने उनकी चेतना को पर्याप्त मात्रा में अभिभूत किया। यद्यपि अन्य रीतिकारों की भांति उनकी बुद्धि ने काव्य-शास्त्र के रस, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि समस्त अंगों का पर्यवेक्षण करने में रमण नही किया, तथापि 'शिवराज-भूषण' के प्रणयन द्वारा उन्होंने अलंकार-सामग्री पर अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया। कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने इस परिमित क्षेत्र में भी पिष्टपेषण का परित्याग करके मौलिक परिवर्तन का विधान किया है। जहां रीति-धारा के अन्य अलंकार-विवे-चकों ने अपने लक्षणों की सृष्टि के लिए शृंगारिक उदाहरणों की आयोजना की है वहां भूषण ने अपनी रुचि के अनुसार उन्हें वीर रस के छन्दों से उदाहृत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सामान्य विशेष' एवं 'भाविक छवि' नामक दो नूतन अलंकारों की उद्भावना की है। अपने अलंकार-ग्रन्थ का नामकरण भी भूषण ने वर्ण्य के आधार पर न कर शैली के आधार पर किया है। इससे भी उनमें तथा उनके युग के अन्य लक्षण-ग्रन्थाकारों में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है।

यद्यपि 'शिवाबावनी' नामक काव्य 'शिवराज-भूषण' के सदृश लक्षण-ग्रन्थ नहीं है, तथापि उसे एक उदाहरण-ग्रन्थ अवश्य कहा जा सकता

हैं। इसका कारण यही है कि उसमें भी कवि की अलंकारिक दृष्टि ही प्रमुख रही है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भूषण ने अलंकारों को साधन-रूप में ग्रहण न करके साध्य के रूप में परिगृहीत किया है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने अलंकारिक चमत्कार को प्रायः इतना महत्व प्रदान किया है कि कतिपय स्थलों पर उनकी अलंकारप्रियता भाव-सौष्ठव के उन्मूलन को हेतु भी बन गई है, किन्तु भूषण का काव्य इस प्रकार की चिन्तनीय भावना से सर्वथा पृथक् है। उनका अलंकार-विधान चमत्कार की सृष्टि में सक्षम होता हुआ भी भाव-सौष्ठव को परिवर्द्धित एवं समृद्ध करने में यथेष्ट योग प्रदान करता है। उदाहरणार्थ अधोलिखित छन्द में शत्रु-स्त्रियों की दो विभिन्न परिस्थितियों को स्पष्टतः अंकित करने में यमक अलंकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। साथ ही इसमें अलंकारिक चमत्कार का भी सुन्दर सन्निहन हुआ है :—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं, कंद मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वै बीन बेर खाती हैं॥
'भूषन' सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या ६)

अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति-प्रकाश आदि समग्र शब्दालंकारों का 'शिवा बावनी' में सफल संघटन हुआ है। अनुप्रास का चमत्कार तो प्रायः प्रत्येक स्थल पर वर्तमान है। कतिपय स्थलों पर अनुप्रास के आधिक्य के कारण भावों का सौन्दर्य भी कुछ गौण हो गया-सा प्रतीत होता है, किन्तु उसका सर्वथा विलोप कहीं भी नहीं हो पाया है। यथा:—

ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत हैं ।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत, जिमि,
थारा पर पारावारा यों हलत है ॥
—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या १)

अर्थालंकारों में भूषण ने उपमा, रूपक, विषम, अप्रस्तुत-प्रशंसा एवं अपन्हुति को विशेष रूप से प्रयुक्त किया है। उपर्युक्त छन्द में अनुप्रास के साथ उपमा का भी सफल सन्निहन हुआ है। इसी प्रकार अधोलिखित पंक्तियों में कवि ने विषम अलंकार के माध्यम से महाराज शिवाजी के जीवन से सम्बद्ध एक विशिष्ट घटना का कितना सफल अंकन किया है:—

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छै हजारिन के नियरे ।
जानि गैर मिसिल गुसैला गुसा धारि उर,
कीन्ह्यो न सलाम न बचन बोले सियरे ॥
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लागो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे ।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ॥
—(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या १६)

भूषण ने अपनी काव्य-प्रतिभा के द्वारा समग्र सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों को अध्येता के समक्ष स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है। ऐतिसिकता का सफल निर्वहन भूषण के काव्य की एक श्लाघ्य विशिष्टता है। यद्यपि प्रबन्ध-सौष्ठव से शून्य होने के कारण 'शिवा-बावनी' में शिवाजी से सम्बन्धित समस्त घटनाओं का क्रम से उल्लेख नहीं हो सका है, तथापि उसमें मुख्य-मुख्य राजनीतिक घटनाओं एवं विजयों का सुन्दर एवं काव्य-

मय चित्रण हुआ है। रीतिकाल के अन्य किसी भी कवि ने ऐतिहासिकता का इतना सफलतापूर्वक परिपालन नहीं किया।

रीतिकालीन कवियों ने ऊहात्मक पद्धति के प्रति अतिशय मोह का प्रदर्शन किया है। नायिकाओं के रूप-चित्रण, विरह-वर्णन तथा अपने आश्रयदाता नरेशों की दान-वीरता एवं कीर्ति-वर्णन में तत्कालीन कवियों ने अपनी कल्पना का अत्यन्त उन्मुक्त रूप में प्रयोग किया है। कविवर भूषण भी युग की इस प्रचलित पद्धति की ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके। उनके वर्ण्य विषय थे—शिवाजी का शौर्य और युद्ध, उनकी अविचल कीर्ति, अतुल दान एवं व्यापक आतंक। इन्हीं क्षेत्रों में उन्होंने ऊहात्मकता को भी परिपोष प्रदान किया है। उदाहरणार्थ 'शिवा-बावनी' से उद्धृत प्रस्तुत छन्द में शिवाजी के आतंक का अत्यन्त अतिरंजित चित्रण हुआ है :—

कोट गढ़ ढाहियतु एकै पातसाहन के,
एकै पातसाहन के देश दाहियतु है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज एकै,
साहन की फौज पर खग्ग बाहियतु है॥
क्यों न होहिं बैरिन की बैरि-बधू बौरि सुनि,
दौरनि तिहारे कहौ क्यों निबाहियतु है।
रावरे नगारे सुनि बैर वारे नगरन,
नैन वारे नदन निवारे चाहियतु है॥
(भूषण-भारती, शिवा-बावनी, छन्द-संख्या १२)

यद्यपि भूषण ने इस दिशा में पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपयोग किया है, तथापि उनके और अन्य रीतिकालीन कवियों के उत्साह-वर्णनों में यथेष्ट अन्तर है। अन्य कवियों के तत्सदृश वर्णन प्रायः मिथ्या पर आधृत हैं, किन्तु भूषण ने सदैव पात्रापात्र का ध्यान रखा है। वीर-केसरी महाराज शिवाजी एवं बुन्देलाधिपति महाराज छत्रसाल की दानशीलता, पराक्रम

एवं उदारता इतिहास-प्रसिद्ध हैं । अतः उनके कीर्ति-स्तवन में अतिरंजना को समाहारित करना कवि-स्वातन्त्र्य के लक्ष्य में रखते हुए क्षम्य ही कहा जायेगा ।

वर्ण्य विषय एवं अलंकार-योजना के अतिरिक्त भूषण की भाषा में भी पर्याप्त मौलिकता समाविष्ट है । वीरगाथाकाल में वीर रसात्मक काव्य की रचना के लिए डिंगल भाषा का प्रयोग किया जाता था, जो अपनी कर्ण-कटु प्रकृति के कारण तत्सदृश वर्णनों के लिए सर्वथा उपयुक्त ही थी, किन्तु भक्ति काल के अन्त तक माधुर्यमयी ब्रजभाषा ही काव्य की स्वीकृत भाषा हो गई । रीतिकाल में शृंगारिक वर्णनों के उपयुक्त बनाने के लिए ब्रजभाषा में और भी अधिक सरसता का समावेश किया गया । कोमल-कान्त पदावली से युक्त होने के कारण सामान्यतः वह वीर रस के लिए इतनी उपयुक्त नहीं रह गई थी । अतः कविवर भूषण को अपनी ओजपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा का वांछित रूप स्वयं ही निर्मित करना पड़ा ।

भूषण की काव्य-भाषा ब्रजभाषा है, किन्तु उसमें संस्कृत, अरबी, फारसी, राजस्थानी, मराठी एवं बुन्देलखण्डी आदि अनेक विदेशी एवं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी पर्याप्त सम्मिश्रण है । अपनी भाषा को सर्व सुलभ बनाने की भावना से प्रेरित होकर कवि ने 'बे-आव', 'मिसिल', 'गरकाब', 'गरज' जैसे शुद्ध विदेशी शब्दों को भी प्रयुक्त किया है और साथ ही 'दिग्गज', 'अखिल', 'गिरि' जैसे शुद्ध संस्कृत शब्दों को भी परि-गृहीत किया है । इसके अतिरिक्त भूषण ने अपने काव्य म प्रयुक्त अनेक शब्दों का स्वयं ही निर्माण किया है । अनेक स्थलों पर छन्दानुरोध अथवा प्रवाह को लक्ष्य में रखने के कारण उन्हें शब्दों का अंग-भंग भी करना पड़ा है । 'गुसा', 'सिपाह', 'फारासीस' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं ।

भूषण की भाषा का समग्र सौष्ठव उसकी ध्वन्यात्मकता में अन्तर्भूत है । अंग्रेजी के कवि Pope ने भाषा में प्रस्तुत गुण के सन्निहन को अनिवार्य

माना है। अपने 'Essay on Criticism' मे उन्होंने लिखा है:—

It is not enough,
No harshness gives offence,
The sound must seem,
An echoe to the sense.

भूषण की भाषा निश्चय ही इस कसौटी पर पूर्ण उतरती है। उनके काव्य के श्रवण अथवा अध्ययन-मात्र से ही श्रोता अथवा अध्येता के समक्ष युद्ध का लोमहर्षक दृश्य मूर्तिमान हो उठता है। रस के अनुकूल ही उनके शब्दों में रणभेरी की ओजमूलक ध्वनि की प्रतीति होती है। भाषा को ओजस्विनी एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि ने उसमें वृत्तियों एवं गुणों का भी पूर्ण समीकरण किया है :—

भूप सिवराज कोप करी रन मंडल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकता के दरबारे में।
काटे भट बिकट औ गजन के सुण्ड काटे,
पाटे रनभूम काटे दुवन सितारे में॥

—(भूषण-भारती, शिवाबावनी, छन्द-संख्या २९)

कविवर भूषण ने सदैव ही अपने चतुर्दिक् एक उत्साहमूलक वातावरण की अनुभूति की है। यही कारण है कि उनकी शैली में कहीं भी गत्यवरोध नहीं आ पाया है। प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ उनकी भाषा-शैली में प्रवाह की मात्रा अपने चरम रूप में वर्तमान है। यथा:—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर राम द्विजराज हैं॥

दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं ।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं ।।

भूषण हिन्दी-साहित्य के ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित काव्य का प्रणयन किया। उन्होंने शिवाजी एवं छत्र-साल को ही अपने काव्य-नायकों के रूप में स्वीकृत किया और ये दोनों ही व्यक्ति राष्ट्रीय चेतना की प्रतिमूर्ति थे। भूषण ने अपने आश्रयदाताओं के व्यापक यश का ही चित्रण किया है—उनके वैयक्तिक जीवन की तनिक-सी भी झलक उनके काव्य में दृष्टिगत नहीं होती। यही कारण है कि अपने अन्य समकालीन कवियों के सदृश राजाश्रित होते हुए भी वह राष्ट्रीय कवि होने के नाते इनसे नितान्त भिन्न हैं। कतिपय आलोचकों ने भूषण के काव्य में राष्ट्रीयता के स्थान पर जातीयता के दर्शन किये हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने हिन्दुओं की प्रायः प्रशंसा की है तथा मुसलमानों की निन्दा। यद्यपि तथ्यतः यह सत्य है, तथापि भूषण की राष्ट्रीयता अक्षुण्ण ही है। इसका कारण यही है कि आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का अर्थ अपने प्राचीन स्वरूप से सर्वथा भिन्न हो चुका है। इस युग में हिन्दू एवं मुसलमान, दोनों ही एक राष्ट्र के समान अंग हैं, किन्तु भूषण के काल में परिस्थिति इससे भिन्न थी। उस समय हिन्दुत्व का सम्पूर्ण सन्देश राष्ट्रीयता पर ही आधृत था, क्योंकि उस युग में मुसलमान विदेशी एवं अत्याचारी शासकों के रूप में प्रख्यात थे। वैसे भूषण ने मुगल सम्राट् औरंगजेब की निन्दा उसके भीषण अत्याचारों के कारण ही की है, मुसलमानों से उसे कोई साम्प्रदायिक द्वेष न था। इसका प्रमाण यही है कि 'शिवा-बावनी' के एक छन्द में उन्होंने स्वयं अकबर, हुमायूँ एवं बाबर के न्याययुक्त शासन की उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है :—

बब्बर हुमायूं और अकबर हद बाँधि गए,
हिन्दू और तुरक की कुरान वेद जबकी ।
याही पातसाहिन में हिन्दुन की चाह थी, सो—
जहांगीर शाहजहां शाह पूरे तब की ।।

इस प्रकार भूषण ने रीतिकालीन काव्य में परिवर्तन का विधान किया। इसी युग में लाल कवि ने भी उनके पद-चिन्हों पर चलकर वीर-रसात्मक काव्य का प्रणयन किया। आधुनिक काल में भी उन्होंने श्री केशवदास शास्त्री की काव्य-चेतना को पर्याप्ततः प्रभावित किया है। शास्त्री जी ने भूषण की 'शिवा-बावनी' के आधार पर 'शिवा-बाजि-बावनी' का प्रणयन किया है। इसमें भी 'शिवा-बावनी' के सदृश शिवाजी के अश्व पर बावन छन्दों का समावेश है। शास्त्री जी की भाषा-शैली पर स्पष्टतः ही भूषण का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है :—

जगमग जागत जवाहिर जटित जीन,
प्रखर खलीन मुख मुखरत आवै है ।
खुर पुट पाटित मही सों रेणु-रासि मिस,
मुगल महीप मद उखरत आवै है ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में भूषण की प्रवाह-पूर्ण एवं अनुप्रास-बहुला भाषा-शैली का तो सफल अनुकरण हुआ है, किन्तु उनकी-सी प्रभावोत्पादकता यहाँ नहीं आ पाई है। केवल कला-क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत भाव-क्षेत्र में भी शास्त्री जी ने 'शिवा-बावनी' को अपनी कृति के आधार-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया है। कतिपय स्थलों पर तो भाव ज्यों के त्यों 'शिवा-बावनी' मे उद्धृत किये गये है। यथा:—

बीबी कहें कहा औ गरीबी गहें भागि जायें,
बीबी गहें सूथनी औ नीबी गहे रानियाँ ।

—'शिवा-बावनी'

भर्रा परचो भागतीं गरीबी बीबी नीबी दाबि

—'शिवा-बाजि-बावनी'

'शिवा-बाजि-बावनी' से उद्धृत प्रस्तुत पंक्ति असंदिग्ध रूप में 'शिवा-बावनी' से सम्बन्धित उपर्युक्त पंक्तियों का परिवर्तित रूप है। वस्तुतः कविवर भूषण की प्रतिभा अत्यन्त जागरूक थी। 'शिवा-बावनी' में उनकी सत्योन्मुख विचार धारा का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है और साथ ही उसमें काव्यत्व की मात्रा भी यथेष्ट रूप में वर्तमान है। वीर रस का प्राधान्य होते हुए भी उसमें अन्य गौण रसों का सुन्दर परिपाक परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा-शैली भी पर्याप्तः हृदयग्राही एवं पूर्णतः भावों का अनुगमन करने वाली है। इस प्रकार 'शिवा-बावनी' में काव्य के भाव एवं कला, दोनों पक्षों का सुन्दर समीकरण हुआ है।

१७. 'उद्धव-शतक' में सगुण-दर्शन

ब्रजभाषा के अनन्य कवि श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धव-शतक' हिन्दी-साहित्य की भ्रमरगीत-परम्परा में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसके अन्तर्गत कृष्ण-विषयक आख्यान को एक अभिनव स्वरूप प्रदान किया गया है। यद्यपि भाव एवं कला, दोनों की दृष्टि से यह काव्य-कृति अपने में प्राचीनता का अनुराग लिए है––इसके भाव-पक्ष का संयोजन कवि ने भक्ति-काव्य से किया है और कलागत मूल्यों का नियोजन करते समय रीतिकालीन आदर्शों को दृष्टि-पथ में रखा है––तथापि अपनी मौलिक चेतना को उन्होंने सदैव प्राथमिकता प्रदान की है। यही कारण है कि यह काव्य-कृति अपने में अत्यन्त उत्कृष्ट बन सकी है और इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक श्लाघ्य तथा नूतन चरण का प्रस्थापन हुआ है।

'उद्धव-शतक' में 'रत्नाकर' जी की दार्शनिक विचार-धारा का सुन्दर सन्निहन हुआ है। 'दर्शन' शब्द मूलतः आत्म-दर्शन, परमात्म-दर्शन और प्रकृति-दर्शन का प्रतीक है। इसके अन्तर्गत कवि के ईश्वर, जीव एवं जगत्-विषयक विचारों का परिग्रहण किया जाता है। 'रत्नाकर' जी सगुण-दर्शन के प्रतिपादक थे और निर्गुण-सिद्धान्त की मान्यतायें उनके विश्वास के सर्वथा विरुद्ध थीं। यही कारण है कि 'उद्धव-शतक' में ज्ञान एवं योग की सूक्ष्म प्रणाली का निराकरण कर प्रेमिल भक्ति के महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रेम-मार्ग में अनुभूति-पक्ष की प्रबलता के कारण ज्ञान-योग की शुष्क वृत्ति की अपेक्षा संवेदन की कहीं अधिक क्षमता होती है। भक्ति-भावना के अन्तर्गत मन तथा मस्तिष्क, दोनों के

तत्वों का सन्निवेश रहता है, किन्तु ज्ञान-वत्ति केवल शुष्क बौद्धिकता से निर्मित होने के कारण एकांगी रहती है। अतः भक्ति निश्चय ही ज्ञान से श्रेष्ठ ठहरती है। यही कारण है कि 'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव-शतक' में निर्गुण मान्यताओं का खंडन कर सगुण-दर्शन के सिद्धान्तों को मान्य ठहराया है। सर्व प्रथम उन्होंने योग की विविध प्रणालियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, तदुपरान्त उनका खण्डन करते हुए प्रेम-मार्ग की प्रेयणीयता का चित्रण किया है और अन्त में ज्ञान के कट्टर तत्व-वेत्ता उद्धव को भी प्रेम के द्वारा अभिभूत होता हुआ चित्रित कर सगुण-मार्ग की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

'उद्धव-शतक' में दार्शनिक ज्ञान-धारा का उद्भावन उस अवसर पर होता है, जब उद्धव वियोग-विह्वल कृष्ण को अद्वैतवाद के 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' अथवा 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' आदि सिद्धान्तों के आधार पर प्रबोध देने का प्रयास करते हैं। कालिन्दी में स्नान करते समय श्रीकृष्ण उसमें प्रवाहित होने वाले एक अरविन्द पुष्प का अवलोकन करते हैं। उसका नेत्ररंजक सौन्दर्य उसके मानस को इतना अभिभूत कर लेता है कि वह उसे अपने कर में ले लेते हैं। उसकी मनोरम सुरभि को प्राप्त करने की भावना से प्रेरित होकर ज्यों ही वह उसे अपनी नासिका के समीप ले जाते हैं, त्योंही उनकी पूर्व स्मृतियाँ जागृत हो उठती हैं और उनका अन्तर विरह-व्यथा के आधिक्य के कारण विह्वल हो उठता है। वस्तुतः पद्मिनी नायिका होने के कारण राधा की शारीरिक सुरभि तथा पद्म-पुष्पों से प्रस्फुटित होने वाली सुगन्धि में पूर्ण समानता थी। यही कारण है कि कृष्ण की वियोग-वन्हि तीव्र वेग से प्रज्वलित होने लगी। जब उन्होंने अपने ज्ञानी सखा उद्धव के समक्ष अपनी व्यथा का कारण प्रकट किया तो वह आश्चर्य चकित हो गये। ज्ञान-मार्ग के अनुगामी होने के कारण उद्धव वियोग की सत्ता में तनिक भी विश्वास नहीं रखते थे। अतः वह कृष्ण के मोह-निवारणार्थ उन्हें भाँति-भाँति के उपदेश देने लगे। यथाः—

पाँचौ तत्त्व माँहि एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य,
याही तत्त्व-ज्ञान को महत्व स्रुति गायौ है ।
तुम तौ बिबेक रतनाकर कहो क्यौं पुनि,
भेद पंचभौतिक के रूप में रचायौ है ।।
गोपिन में, आप में, बियोग और संयोग हूँ में,
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है ।
आपु हि सौं आपु कौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है ।।

इसी प्रकार के अन्य अनेक सिद्धान्तों का आश्रय लेकर उद्धव कृष्ण की विरह-जन्य व्यथा को सर्वथा मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उद्धव ज्ञान तथा योग की परम्पराओं से पूर्णतया परिचित थे और इसका उन्हें अत्यधिक गर्व भी था, किन्तु विरह की मार्मिकता में उनकी तनिक भी गति नहीं थी। सर्वज्ञ होणे के कारण श्रीकृष्ण इस तथ्य से अवगत थे। अतः वह उद्धव से गोपियों के मोह-निवारणार्थ ब्रज-भूमि की ओर गमन करने का अनुरोध करते हैं। उद्धव को इसमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। और वह कृष्ण की प्रेरणा से ब्रजभूमि में जाकर गोप-वधुओं के समक्ष ब्रह्म-ज्ञान-विषयक सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए सहर्ष निर्गुण-दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। भौतिक इकाइयों एवं आत्म-तत्वों में एकत्व-सम्बन्ध की स्थापना कर वियोग की सत्ता का निराकरण करते हुए वह कहते हैं—

सोई कान्ह, सोई तुम सोई सबहीं हैं लखौ,
घट-घट अन्तर अनन्त स्याम घन कौं ।
कहै रत्नाकर न भेद-भावना सौं भरौ,
बारिधि औ बूंद के बिचारि बिछुरन कौं ।।
अबिचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि,
जोग-जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं ।

जीव आत्मा कौं परमातमा में लीन करौ,
छीन करौ तन कौंन दीन करौ मन कौं ।।

इस प्रकार अनेक उदाहरण देकर उद्धव गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं और उनके मोह के निराकरण का भरसक प्रयास करते हैं। माया को भेदभाव की मूल इकाई मानकर वह उन्हें अन्तर्मुखी चेतना द्वारा साधना करने का उपदेश देते हैं, किन्तु गोपियाँ उनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होतीं। उनको प्रबोध देने की उद्धव की समस्त चेष्टायें व्यर्थ सिद्ध होती हैं। इस प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि सूर की गोपियों में भावना का प्राबल्य रहा, किन्तु तर्क-शास्त्र के सिद्धान्तों से उनका तनिक भी परिचय नहीं है और नन्ददास की गोपियाँ भावना से शून्य होने के कारण केवल तर्क को ही प्रश्रय प्रदान करती हैं, किन्तु 'रत्नाकर' जी की गोपियों में इन दोनों विशेषताओं का समान आधार पर समावेश हुआ है। कभी भावना तथा कभी तर्क का आश्रय ग्रहण कर वे उद्धव की समस्त युक्तियों का खण्डन कर देती हैं। उद्धव के प्राणायाम एवं हठयोग-विषयक विचारों का तिरस्कार करते हुए वे आकार शून्य ब्रह्म को व्यावहारिक जीवन के अनुपयुक्त मानती हैं और वियोग-साधना को विरतिमूलक ज्ञान-योग से कहीं अधिक श्रेष्ठ ठहराती हैं। ब्रह्म को त्रिपुटी में धारण करने की बात को हास्यास्पद मानकर वे तर्क द्वारा उसका खण्डन कर देती हैं। यथा:—

रूप-रस हीन जाहि निपट निरुपि चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ और रस चखिबौ कहौ।
एते बड़े विस्व माहिं हेरैं हूँ न पैयै जाहि।
ताहि त्रिपुटी में नैन मूँदि लखिबौ कहौ ।।

हठयोग की प्राणायाम-क्रिया में श्वास की गति को प्रतिरुद्ध किया जाता है। इसमें आत्मा का समस्त कल्मष विनष्ट हो जाता है और उसमें

नैर्मल्य का संचरण होता है। इसी कारण उद्धव गोप-वधुओं को तदनुसार कार्य करने का उपदेश देते हैं, किन्तु कृष्ण की अनन्य प्रेमिका गोपियाँ इसे सर्वथा अस्वीकार कर देती हैं। जब उन्हें प्रेम का सहज मार्ग उपलब्ध है तो वे व्यर्थ का परिश्रम क्यों करने लगीं। अतः वे उद्धव की युक्ति का तत्क्षण खण्डन कर देती हैं :—

प्रेम-रतनाकर-गँभीर-परे मीनन कौं,
इहिं भव-गोपद की भीति भरिबौ कहा।
एकै बार लैहैं भरि मीच की कृपा सौं हम,
रोकि-रोकि साँस बिनु मीच मारिबौ कहा॥

निर्गुण ब्रह्म का अस्तित्व गोपियों को सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है। अपने सहज स्वभाव के कारण वे केवल प्रत्यक्ष की सत्ता में ही आस्था रखती हैं—अलक्ष्य रहकर भी कोई वस्तु वर्तमान रह सकती है, इसका उन्हें विश्वास नहीं होता। उद्धव श्रीकृष्ण को सामान्य मनुष्य ठहरा कर ईश्वर के निराकार स्वरूप का विवेचन करते हैं और गोपियों को उसी की साधना करने का उपदेश प्रदान करते हैं, किन्तु गोपियाँ इसे कदापि स्वीकार नहीं करतीं। उन्होंने श्रीकृष्ण को सदैव परमेश्वर के रूप में ग्रहण किया है और अपने उस दृढ़ विश्वास को विनष्ट करना उन्हें तनिक भी सह्य नहीं है। अतः वे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक उद्धव के समक्ष अपना निश्चय अभिव्यक्त करती हैं :—

हम प्रतच्छ में प्रमान अनुमानैं नाहिं,
तुम भ्रम-भौंर में भलैं ही बहिबौ करौ।
कहै रतनाकर गुबिन्द ध्यान धारैं हम,
तुम मनमानौ ससा-सिंग गहिबो करौ॥
देखति सो मानति हैं सूधो न्याव जानति हैं,
ऊधौ ! तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ।

लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ ॥

यदि किसी प्रकार वे निराकार ब्रह्म की सत्ता में विश्वास कर भी लें तो उसकी साधना वे कदापि नहीं कर सकतीं। यदि वे उद्धव की बात मानकर आकारशून्य ब्रह्म का ध्यान करें भी तो यह उनके लिए व्यर्थ ही सिद्ध होगा। रंग, रूप, आकृति आदि मानवीय विशेषताओं से रहित होने के कारण निराकार ब्रह्म गोपियों का कोई भी आवश्यक कार्य नहीं कर सकता। अतः स्पष्ट ही उसकी उपासना करना उनके लिए निरर्थक है। गोपियों की समस्त आवश्यकतायें तथा कार्य इस प्रकार के हैं कि उन्हें पूर्ण करने के लिए ईश्वर में उपर्युक्त समग्र विशेषताओं का होना अनिवार्य है। केवल श्रीकृष्ण हो ऐसे परमेश्वर हैं जो उनकी आवश्यकताओं को सहज ही पूर्ण कर सकते हैं। अतः यही कारण है कि वे उनकी उपासना में संलग्न रहती हैं। इस प्रकार गोपियाँ उद्धव द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों का आश्रय लेकर उन्हीं के सिद्धान्त का निराकरण कर देती हैं। आकार-शून्य ब्रह्म को व्यावहारिक जीवन के अनुपयुक्त ठहराती हुई वे कहती हैं:—

कर-बिनु कैसें गाय दूहि है हमारी वह,
पद-बिनु कैसें नाचि थिरकि रिझाइहै ।
कहै रतनाकर बदन-बिनु कैसैं चाखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै ॥
देखि सुनि कैसें दृग स्रवन बिनाहीं हाय,
भोरे ब्रजबासिनी की बिपति बराइहै ।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारैं काम आइहै ॥

योगी आवागमन के पाश से मुक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही साधना का आश्रय लेते हैं, किन्तु गोपियाँ उस आकांक्षा की

अवहेलना करती हैं, वे सदैव श्रीकृष्ण के समीप रहने की इच्छुक हैं और यह केवल विश्व में जन्म लेने के उपरान्त ही सम्भव हो सकता है। यद्यपि कृष्ण के मथुरा-गमन के उपरान्त वे उनसे वियुक्त हैं, तथापि उन्हें आशा है कि यदि इस जन्म में नहीं तो किसी अन्य जन्म में अवश्य ही श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त कर लेंगी। यही कारण है कि वे बार-बार जन्म लेने की आकांक्षा से युक्त हैं। इस प्रकार उनकी तथा योगियों की भावना तथा इच्छा में महान् अन्तर है। अतः योग-मार्ग उनके आदर्शों के सर्वथा विपरीत ठहरता है :—

ऊधौ यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं,
सूधौ बाद छाँड़ि बकवादहिं बढ़ावै कौन।
कहै रतनाकर बिलाय ब्रह्म काय माहिं,
आपने सौं आपुनपौ नसावै कौन॥
काहू तौ जनम मैं मिलैंगी स्यामसुन्दर कौं,
याहू आस प्रानायाम-साँस मैं उड़ावै कौन।
परि कै तिहारी ज्योति-ज्वाल की जगाजग में
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै कौन॥

योग का अर्थ संयोग से लेकर गोपिकायें उद्धव के विरतिमूलक योग के विधान को असंगत ठहराती हैं। वे सदैव भक्ति के सिद्धान्तों में ही विश्वास रखती हैं। अतः योग की मान्यतायें उन्हें अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होतीं। इसका कारण यही है कि योग की पद्धति में नितान्त शुष्क तत्वों का सन्निहन रहता है, किन्तु भक्ति की अनुरागमयी प्रणाली में मन की सरस वृत्तियों की पुष्टि होती है। स्त्रियोचित स्वाभाविक कोमल वृत्तियों से युक्त होने के कारण भक्ति के रस-युक्त उपकरण गोपियों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध होते हैं, किन्तु योग-मार्ग का अनुमान करना उनकी प्रकृति के विपरीत है। यही कारण है कि वे

उद्धव के तत्सम्बन्धी उपदेशों का भरपूर तिरस्कार करती हैं। भक्त केवल अपने इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करना चाहता है। योगियों की भाँति अपने अस्तित्व को इष्टदेव में लीन करना नहीं चाहता। भक्ति-मार्ग की अनुगामिनी गोपियाँ भी ब्रह्म-रूपी सिन्धु में अपने आत्मा-रूपी बिन्दु का समावेश करने को तैयार नहीं होतीं, क्योंकि इससे सागर की सीमा तथा विशालता में कोई अन्तर नहीं आयेगा, किन्तु बिन्दु का अस्तित्व व्यर्थ ही विनष्ट हो जायगा। इसी कारण वे उद्धव से कहती हैं:—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न वारिधिता वारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

यद्यपि यह सत्य है कि योगी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गहन साधना करते हैं, तथापि वे वियोगिनी गोपिकाओं के समक्ष कुछ न कुछ निकृष्ट ही ठहरते हैं। अपने प्रिय के विरह में गोप-वधुएँ जितनी कठिन यातनाओं को सहन करती हैं, योगियों को उसका शतांश भी सहन नहीं करना पड़ता। योगी केवल बाह्य उपकरणों का अवधारण करते हैं, किन्तु वियोगिनी गोपिकायें अपने अन्तर को भी उसी रंग में रंग लेती हैं। योगी विश्व को अपनी वास्तविकता से परिचित कराने की भावना से अपने शरीर को भस्म आदि वस्तुओं से परिवेष्टित करते हैं, किन्तु वियोगी जन इस प्रकार के आडम्बरों में विश्वास नहीं रखते। वे वियोग की वन्हि में स्वयं अपने शरीर को ही दग्ध करते हैं और इस प्रकार साधना के वास्तविक स्वरूप का परिपालन करते हैं। योगी अपनी आयु की वृद्धि के लिए प्राणायाम आदि क्रियाओं का आश्रय लेते हैं, किन्तु वियोगी प्रिय के वियोग में एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहते। वस्तुतः योगियों की तुलना में वियोगिनी गोपियाँ ही अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ हैं——

वे तौ बस बसन रँगावें, मन रँगत ये,
भसम रमावैं वे, ये आपुहीं भसम हैं ।
साँस साँस माँहि बहु बासर बितावत वे,
इनकैं प्रतेक साँस जात ज्यों जनम हैं ।।
ह्वै कै जग-भुक्ति सौं विरक्त मुक्ति चाहत वे,
जानत ये भुक्ति-मुक्ति दोऊ विष-सम हैं ।
करिकै बिचार ऊधौ सूधौ मन माँहि लखौ,
जोगी सौं बियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ।।

इष्टदेव की साधना सदैव हृदय की निष्काम भावना से प्रेरित होकर करनी चाहिए। जब तक किसी स्वार्थ की कामना अन्तर में वर्तमान रहेगी तब तक सच्ची उपासना कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इसका कारण यही है कि स्वार्थ-वृत्ति के कारण ध्यान में संलग्न रहने के कारण साधना में साधक का पूर्ण मनोयोग नहीं रहता। और इस प्रकार की उपासना प्रत्येक दृष्टि से निकृष्ट ही समझी जाएगी। यह तथ्य योगी तथा वियोगी की साधना में अन्तर उपस्थित करने के लिए निश्चय ही पर्याप्त है। यद्यपि यह सत्य है कि योग-मार्ग की ओर उन्मुख होने वाला साधक सभी भौतिक कामनाओं का पूर्णतया परित्याग कर देता है और इस स्थूल विश्व के प्रति नितान्त विरक्त दृष्टिकोण को अपना लेता है, तथापि वह मोक्ष की कामना अवश्य रखता है जो कि स्वयं एक बन्धन-स्वरूप तत्व है. किन्तु भावक सगुण-प्रेमी व्यक्ति सदैव निष्काम भाव से इष्ट के प्रति अनुरक्त रहते हैं। अपनी इन्हीं भावनाओं को उद्धव के समक्ष अभिव्यक्त करती हुई गोपिकायें कहती हैं:—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं, सुनौ,
भुक्ति मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम।

इस प्रकार हमने देखा कि गोपियाँ विभिन्न युक्तियों के द्वारा उद्धव

के तर्कों का खण्डन कर देती हैं और प्रेम-मार्ग को ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठतर ठहराती हैं। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए वे जिन कारणों का उद्‌भावन करती हैं, वे अपने में नितान्त अकाट्य हैं। उद्धव को उनका खण्डन करने का तनिक भी साहस नहीं होता और इसी कारण वह इस ओर उन्मुख भी नहीं होते। इसके अतिरिक्त जब गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने हार्दिक उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करती हैं तो उद्धव सर्वथा निरुत्तर हो जाते हैं और शनैः-शनै स्वयं भी उन्हीं भावनाओं से अभिभूत हो जाते हैं। प्रियतम के प्रति अपनी प्रेममयी भावधारा को अनावृत्त करती हुई गोपियाँ कहती हैं:—

कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै,
ब्रज मैं तिहारी कला नैंकु खटिहै नहीं।
कहै रतनाकर प्रेम-तरु पैहैन सूखि,
याकी डार-पात तृन-तूल घटिहै नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधो!
पी-पी की बिहाइ और रट रटिहै नहीं।
लौटि पौटि बात कौ बवंडर बनावत क्यौ,
हिय तैं हमारे घनस्याम हटिहै नहीं॥

अन्त में गोपियों की अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति के समक्ष उद्धव की शुष्क वेदान्तवादी विचारधारा पराभूत हो जाती है और वह सगुण-दर्शन के महत्व को स्वीकार कर लेते हैं। ज्ञान तथा योग के समस्त सिद्धान्त उन्हें विस्मृत हो जाते हैं और वह स्वयं भी प्रेम के रंग में रंग जाते हैं। यही कारण है कि ब्रज से लौटते समय उनकी आन्तरिक दशा अत्यन्त करुणामयी हो उठती है। ज्ञान के मिथ्या गर्व का आवरण उनकी दृष्टि से दूर हो जाता है और अब उन्हें ब्रज की दशा का वास्तविक बोध होता है। वह अनुभव करते हैं कि न केवल गोपी, ग्वाल आदि चेतन प्राणी, अपितु ब्रज-मण्डल के अचेतन पदार्थ भी कृष्ण के विरह में व्याकुल हैं। ब्रज का एक-

एक कण उन्हें प्रेम-भावना से युक्त प्रतीत होता है। उनकी स्वयं की दशा भी प्रेम के आधिक्य के कारण विचित्र हो उठती है:—

गोपी, ग्वाल, नंद, जसुदा सौं तौ बिदा ह्वै उठे,
उठत न पाय पै उठावत उठत हैं।
कहै रतनाकर संभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनी बचाइ चल्यौ चोर ज्यौं भगत हैं॥
कुंजनि की कूल की कलिंदी की रुरेंदी दसा,
देखि-देखि आँस औ उसाँस उमगत हैं।
रथ तें उपरि पथ पावन जहाँ हीं तहाँ,
बिकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं॥

गोपियों के पवित्र प्रेम तथा अनन्य श्रद्धा के द्वारा उद्धव इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उनकी ज्ञान-विभूति सर्वथा विलुप्त हो जाती है। अब उनके हृदय में किसी प्रकार का गर्व शेष नहीं रहता और वह कृष्ण के समक्ष स्पष्ट रूप से अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुतः उन्हें ब्रज के प्रेम-युक्त वातावरण के प्रति इतना मोह हो गया था कि मथुरा लौटने की उनकी इच्छा ही नहीं थी, किन्तु कृष्ण के समक्ष ब्रज की विरह-विह्वल करुणा-मयी दशा का वर्णन करने की भावना के कारण उन्हें अपनी उस प्रबल इच्छा का दमन करना पड़ता है। कृष्ण से अपनी इसी दशा का वर्णन करते हुए वह कहते हैं:—

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना के तीर,
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै रतनाकर बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़,
स्रौन रसना में रस और भरते नहीं॥
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हूँ नैकुँ डरते नहीं।

होतौ चित चाव जौ न तिहारै चितावन को
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं ।।

इस प्रकार 'उद्धव-शतक' में सगुण-दर्शन का परिपोष अत्यन्त सुन्दर रीति से किया गया है।'रत्नाकर' जी ने परम्परा-प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को भी अपने मौलिक चिन्तन द्वारा सरस रूप में उपस्थित किया है। मनोविज्ञान से समन्वित होने के कारण ये सिद्धान्त और भी अधिक संप्रेषणीय हो गये हैं। वस्तुतः 'उद्धव-शतक' में काव्य और दर्शन की जो उत्कृष्ट समष्टि उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र विरल है।

१८. 'साकेत' में उर्मिला का विरह-वर्णन

श्रीयुत मैथिलीशरण कृत 'साकेत' का हिन्दी-साहित्य-कृतियों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रणयन द्वारा उन्होंने राम-कथा की सहज-सात्विक परम्परा को विकासोन्मुख करने में पर्याप्त योग प्रदान किया है। वस्तुतः उन्होंने 'साकेत' के माध्यम से रामकाव्य को एक नूतन स्वरूप प्रदान किया है।

'साकेत' के प्रणयन में गुप्त जी का प्रमुख उद्देश्य काव्य की उपेक्षिता उर्मिला की विरह-संकुल भावनाओं का विवेचन करना है। कवीन्द्र रवीन्द्र एवं श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी के उर्मिला-विषयक लेखों द्वारा गुप्त जी का ध्यान राम-काव्य के अन्य प्रणेताओं की उर्मिला-सम्बन्धी उपेक्षा की ओर गया और उसका निराकरण करने की भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'साकेत' की रचना की। यही कारण है कि उनकी काव्य-कृति में विरह-विषयक भावनाओं का अत्यन्त व्यापक एवं विश्लेषणात्मक चित्रण हुआ है। यद्यपि साकेत' के अधिकांश अध्यायों में विरह-भाव का चित्रण ही प्रमुख रहा है, तथापि उसके नवम् एवम् दशम् सर्गों में तो कवि का अभीष्ट केवल विरह-भावनाओं की अभिव्यक्ति ही है।

गुप्त जी ने उर्मिला की विरह-वेदना को निसर्ग भाव-भूमि पर प्रस्थित रखने का भरसक प्रयास किया है। इस विषय में उन्होंने प्रत्येक परिस्थिति का अंकन इस रूप में किया है कि उससे उनके उद्देश्य की सिद्धि का कार्य भी अधिकाधिक सरल प्रतीत होने लगा है। उर्मिला की विरह-व्यथा को स्पष्ट करने के लिए कवि ने जिस पृष्ठभूमि का संयोजन किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त करुण और हृदयस्पर्शी है। कवि के हृदय की पूर्ण सहा-

नुभूति से युक्त होने के कारण उसकी विरह-गाथा मार्मिकता की दृष्टि से और भी अधिक गहन तथा सहृदय-संवेद्य बन गई है। उसमें अध्येता के अन्तस् का स्पर्श करने की महती शक्ति का अपूर्व सन्निवेश है।

'साकेत' के प्रथम सर्ग में गुप्त जी ने उर्मिला की संयोगावस्था का अत्यन्त रमणीय चित्र अंकित किया है। लक्ष्मण एवं उर्मिला के पारस्परिक मधुर वार्तालाप रस की दृष्टि से घनीभूत होकर अध्येता के मानस में पैठते चले जाते हैं। संयोग की इस रम्य पृष्ठभूमि ने वियोग के चित्र को और भी मधुर बना दिया है। यदि गुप्त जी प्रारम्भिक संयोगावस्था का अंकन किये बिना ही उर्मिला की विप्रलम्भमयी भाव-धारा का इतने व्यापक एवं प्रशस्त रूप में चित्रण कर देते तो निश्चय ही उसका वर्तमान सौष्ठव कुण्ठित हो जाता। उर्मिला की संयोगावस्था का अंकन करने के लिए कवि ने शब्दों की जिन मधुर एवं रमणीय रेखाओं का आश्रय लिया है, वे इतनी उपयुक्त हैं कि अध्येता के नेत्रों के समक्ष सहसा एक चित्र-सा साकार हो उठता है। यथा:—

चूमता था भूमि तल को अर्द्ध विधु सा भाल,
बिछ रहे थे, प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ॥

पिता के आदेश का पालन करने के लिए जब श्रीराम शीघ्र ही वन-गमन के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, तब पूज्य भ्राता के चरणों का सदैव अनुगमन करने वाले लक्ष्मण किसी भी प्रकार अयोध्या में नहीं रह सकते। वह भी राम के साथ उनकी सेवा के लिए वन जाने को उद्यत हो जाते हैं। यद्यपि उस समय सीता एवं उर्मिला की स्थिति सर्वथा समान ही होती है, किन्तु सीता की स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। वह राम के समक्ष कतिपय अकाट्य तर्क प्रस्तुत कर उनके सहगमन का सौभाग्य प्राप्त कर लेती है।

उर्मिला को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता। उसके पति वन में अपने अग्रज के प्रति सेवा-व्रत का पालन करने के लिए जा रहे हैं और यदि वह भी सीता के सदृश उनके साथ गई तो उनके कर्त्तव्य में बाधा उपस्थित होने की सम्भावना है। वह प्रत्येक प्रकार की पीड़ा सहन कर सकती है, किन्तु कर्त्तव्य से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना उसके लिए असह्य है। यही कारण है कि उसने अपने जीवन में सर्वत्र कर्त्तव्य-पालन को ही प्राथमिकता प्रदान की है। प्रस्तुत अवसर पर भी वह अपने मन को निम्नलिखित शब्दों द्वारा धैर्य प्रदान करती है—

हे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।

अन्त में लक्ष्मण भावी वियोग की उपेक्षा कर अग्रज के प्रति अपने व्रत का पालन करने के लिए वन की ओर प्रस्थान करते हैं और उर्मिला के अद्यावधि संयोग के सुखद दिवस शीघ्र ही विरह के शोकपूर्ण दिवसों में परिवर्तित हो जाते हैं। नव वय के प्रथम परिचय में ही वह प्रिय से वियुक्त हो जाती है और उसके मन की समग्र प्रसन्नता पर अकाल तुषारापात हो जाता है। उसके शरीर की पूर्वकालीन शोभा शनैः-शनैः नाश की ओर प्रेरित होने लगती है, किन्तु उसे प्रिय से वियुक्त होने के कारण इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती। उसका स्वास्थ्य इतना क्षीण हो जाता है कि कुछ समय के उपरान्त वह केवल अस्थियों का पंजर-मात्र ही शेष रह जाती है। यही कारण है कि चित्रकूट में उसे देखकर लक्ष्मण आश्चर्य-चकित रह जाते हैं :—

जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होंने देखा,
तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला-रेखा।
यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया।

गुप्त जी ने उर्मिला की विरह-वेदना को अत्यन्त व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके 'साकेत' के सम्पूर्ण नवम् एवम् दशम् सर्ग उसी के अश्रुओं से सिक्त हैं। इनमें भी नवम् सर्ग में उन्होंने उसकी तत्कालीन भावावस्था का अत्यन्त विस्तार पूर्वक वर्णन करने का प्रयास किया है। गुप्त जी की अपनी भावना के अनुसार तो यह सर्ग आज भी अपूर्ण ही है और सम्भवतः सदैव अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि विरहिणी नारी की भावनाएँ असंख्य धाराओं और अनेक रूपों में प्रवाहित होती रहती हैं और किसी भी कवि के लिए उनका समग्र रूप में चित्रण करना असम्भव है। इतना होते हुए भी गुप्त जी ने इस क्षेत्र में जो प्रयास किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है।

गुप्त जी एक सूक्ष्म-द्रष्टा कवि हैं और मनोविज्ञान के विभिन्न अंगों में उनकी सहज गति है। यही कारण है कि उन्होंने उर्मिला के विरहोद्गारों का वर्णन करते समय मनोविज्ञान का विशेष आश्रय ग्रहण किया है। भावावेग के कारण कभी-कभी वह उन्मत्त हो उठती है और विक्षिप्तावस्था में ऐसा अनुभव करती है मानो लक्ष्मण उसके नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हों। इसी प्रकार कतिपय स्थलों पर उसने अपनी भावनाओं को गौण स्थान प्रदान कर धैर्य का अवधारण कर लिया है। कभी-कभी वह भूतकाल की सुखद स्मृतियों में लीन होकर आनन्द की अनुभूति करने लगती है, किन्तु कुछ समय पश्चात् ही वर्तमान की वेदना घनीभूत होकर उसके अन्तस् को अभिभूत कर लेती है और दूसरे ही क्षण उसकी उन्मुक्त कल्पना अनागत भविष्य के शंकापूर्ण लोक में विचरण करने लगती है। विरह की विक्षिप्त अवस्था में सम्बन्धित व्यक्ति के हृदय में सामान्यतः जिन अव्यवस्थित भावों का संचरण होता है, वे रागिनी के छिन्न-भिन्न स्वरों के समकक्ष ही होते हैं। उनकी स्थिति एक सम्पूर्ण उद्गार के रूप में नहीं है, प्रत्युत वे पृथक्-पृथक् रूपों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के द्योतक हैं। गुप्त जी ने इस प्रकार की मनः स्थितियों को मुक्तक गीतों के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर और मधुर रूप में संयोजित किया है।

उर्मिला के अन्तस् में अपने प्रिय के प्रति प्रेम एवं कर्त्तव्य, दोनों वृत्तियों की भावनाएँ समान रूप से व्याप्त हैं। यद्यपि यह सत्य है कि कभी-कभी वह प्रेमाधिक्य के वशीभूत होकर कर्त्तव्य का विस्मरण कर बैठती है, किन्तु इसके समानान्तर ही कभी-कभी वह कर्त्तव्य-पालन में इतनी दृढ़ता का परिचय देती है कि सुषुप्तावस्था में भी उसका ध्यान बना रहता है। गुप्त जी ने उसकी इस द्विधात्मक परिस्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है :—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी आओ,
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर जाओ।

मानव-जीवन से घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध होने के कारण प्रकृति को अनादि काल से साहित्य में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। मानव प्रायः प्रकृति के क्रिया व्यवहार में अपनी भावनाओं को आरोपित कर लेता है। यही कारण है कि प्रकृति उसे अपने सुखपूर्ण दिवसों में हर्षोत्फुल्ल तथा दुःखपूर्ण परिस्थितियों में उदास प्रतीत होने लगती है। कवि-गण भी उसका चित्रण करते समय प्रायः इन्हीं बातों का ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि संयोगावस्था में जो प्राकृतिक उपादान सुखद प्रतीत होते हैं, वही विरह-जन्य परिस्थिति में अतिशय पीड़ा पहुँचाने लगते हैं। विरह-वर्णन करते समय प्रायः सभी कवियों ने इसी भावना का परिग्रहण किया है।

गुप्त जी ने भी उर्मिला के विरह का उल्लेख करते समय प्रकृति को ध्यान में रखा है। उर्मिला को प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ पूर्व संयोगावस्था में हर्ष में निमग्न प्रतीत होता था, किन्तु विरह के अवसर पर उन सभी की स्थिति मानो पूर्णतः परिवर्तित हो उठी। यथा:—

वह कोयल जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली, रोष-वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूल चरती है,
उबल सूखती है जल धारा, यह धरती मरती है।

इतना होते हुए भी इस विषय में गुप्त जी के तथा अन्य कवियों के प्रकृति-चित्रण में पर्याप्त अन्तर है। यह एक नितान्त स्पष्ट सत्य है कि प्राकृतिक उपादान सदैव मानव की परिस्थितियों के अनुसार रूप-परिवर्तन नहीं करते। अनेक बार ऐसे अवसर भी उपस्थित हो जाते हैं जब मानव की दुःख-निमग्न अवस्था में भी प्रकृति की स्थिति पहले की भाँति उल्लसित रहती है और उसके स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं आ पाता। ऐसे अवसरों पर अन्य कवियों ने अपनी विरहिणी नायिकाओं द्वारा प्रायः क्षोभ की भावना को अभिव्यक्त कराया है। सूर के भ्रमर-गीत प्रकरण में हमें इस भावना के अनेक स्थानों पर दर्शन उपलब्ध होते हैं। उनकी गोपियाँ इस प्रकार की विरहात्मक परिस्थिति में स्वयं तो शोकपूर्ण जीवन का यापन कर रही थीं, किन्तु जिस समय उन्होंने अपने समीपस्थ मधुवन को विकसित होते हुए देखा, उस समय उनका क्रोध सहसा शतशः धाराओं में प्रकट हो उठा और वे चीत्कार कर कह उठीं—

मधुवन तुम कत रहत हरे।

दुसह वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे!!

गुप्त जी ने अपने काव्य में इतनी संकुचित मनोवृत्ति को प्रश्रय न देकर निश्चय ही इस दिशा में एअ मौलिक चरण का प्रस्थापन किया है। उनकी उर्मिला के अन्तस् में विरहावस्था में भी प्रकृति के प्रति अत्यन्त उदार भावनाएँ विद्यमान हैं। पर-पीड़न की अपेक्षा वह आत्म-पीड़न को कहीं अधिक श्रेयस्कर समझती है और यही कारण है कि वह विरह-जन्य वेदना से स्वयं आकुल रहने पर भी प्राकृतिक उपादानों को सदैव हर्षोत्फुल्ल अवस्था में देखने की इच्छुक है। उसके हृदय में यह आकांक्षा कदापि नहीं है कि कोई अन्य पदार्थ अथवा प्राणी भी उसी की भाँति वेदना से व्याकुल हो। इसी विचारधारा के फलस्वरूप उसने प्राकृतिक उपकरणों को सम्बोधित करते हुए एक स्थल पर कहा है—

हँसो हँसो हे शशि, फूल, फूलो,

हँसो हिंडोरे पर बैठ झूलो।

यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ ॥

उर्मिला के व्यक्तित्व का विकास नितान्त संघर्षात्मक परिस्थितियों के बीच हुआ है। नव वय के प्रारम्भिक स्वर्णिम दिवसों में ही सर्वथा अकल्पित विरह-दुःख से प्रपीड़ित हो जाने के कारण सर्वप्रथम तो उसने प्रिय-वियोग के फलस्वरूप उद्भूत वातावरण को विवश भाव से ही स्वीकार किया है, किन्तु शीघ्र ही वह परिस्थितियों की उस गहनता को पराभूत कर देती है और प्रेम को गौण स्थान प्रदान कर कर्त्तव्य-भावना को प्राथमिकता देने लगती है। इस विषय में उसका आदर्श शनैः-शनैः इतना उन्नत हो जाता है कि दक्ष-पुत्री सती और भगवान् विष्णु की भार्या लक्ष्मी भी उसके समक्ष तुच्छ प्रतीत होने लगती है —

डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ ॥

लक्ष्मण के यश को चतुर्दिक् प्रसारित करने और उसके व्यक्तित्व को विकासोन्मुख करने के लिए उर्मिला परिस्थिति की प्रत्येक कुटिलता को सहन करने के लिए प्रस्तुत है। भौतिक जीवन में प्राप्त होने वाले सामान्य क्षणिक् सुखों का परित्याग कर वह किसी भी उत्कृष्ट सत्ता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए सर्वथा जागरूक रही है। यही कारण है कि अपनी विक्षिप्तावस्था में लक्ष्मण को व्रतभ्रष्ट होकर आया हुआ समझकर वह उनका तिरस्कार ही करती है। ईश्वर से वह निरन्तर यही कामना करती है कि उसके प्रियतम कानन में उसका विस्मरण कर तन्मयतापूर्वक अपने सेवा-व्रत में संलग्न रहें, किन्तु वह स्वयं उनके ध्यान को एक क्षण के लिए भी विस्मृत करने को प्रस्तुत नहीं है। इस विषय में उसके सन्तोष का परिचय केवल निम्नलिखित पंक्तियों से हो जाता है—

आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर।

तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी ।।

यद्यपि यह सत्य है कि कतिपय अवसरों पर उर्मिला के अन्तस् में प्रेम-विषयक भावना अत्यन्त प्रबल रूप में संचरित होती है और वह चाहती है कि उसके विरह के लिए निर्धारित अवधि का यथाशीघ्र अवसान हो जाये, तथापि उसकी यह आकांक्षा कदापि नहीं रही कि लक्ष्मण सेवा-व्रत को भंग कर अवधि से पूर्व ही प्रिया की सान्निध्य-प्राप्ति के लिए व्यग्र हो घर लौट आयें। ऐसी परिस्थिति के आगमन की अपेक्षा वह मृत्यु के पद-संचरण को कहीं अधिक श्रेयस्कर समझती है। वैसे स्वयं उसके हृदय में मिलन की अभिलाषा अनेक बार घनीभूत हो गई है और ऐसी परिस्थिति में उसने स्वयं प्रिय के निकट पहुँच जाने की कामना को निस्संकोच अभिव्यक्त किया है :—

यही आता है इस मन में ।
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में ।।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूं रहूँ निकट भी दूर ।
व्यथा रहे पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर ।।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में ।
बीच बीच में उन्हें देख लूं मैं झुरमट की ओट ।
जब वे निकल जायें तब लेटूं उसी धूल में लोट ।।

इन पंक्तियों में कवि ने नारी के गहन आदर्श को अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक रूप में उपस्थित कर दिया है और यही कारण है कि ये अध्येता के अन्तस् का तुरन्त स्पर्श करती है। इनके द्वारा हमें लक्ष्मण के प्रति उर्मिला की उत्कट प्रीति, श्रद्धा और कर्त्तव्य-भावना के एक साथ ही स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि गुप्त जी ने उर्मिला की विरह-वेदना को सहज रूप में अभि-

व्यक्त करने का भरसक प्रयास किया है तथापि उन्हें इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता की उपलब्धि नहीं हुई है। इसका कारण यही है कि उन्होंने उसे अत्यधिक विस्तार प्रदान किया है। विरहिणी के वास्तविक जीवन को दृष्टि में रखते हुए ये परिस्थिति-चित्र अपने में स्वाभाविक हो सकते हैं, किन्तु काव्य में उनका इतना विस्तृत आख्यान निश्चित रूप से अवांछनीय है। काव्य अथवा साहित्य में मानव-जीवन की अन्तर्व्याप्ति की अपेक्षा की जाती है, किन्तु उसके लिए यह आवश्यक है कि वह ज्यों की त्यों उसी रूप में न होकर कुछ परिवर्तन के साथ अवतीर्ण हो। उसमें संक्षिप्त कथन और कथा-संयोजन के तत्त्वों का ध्यान रखना अनिवार्य है। जीवन में स्वरूप की दृष्टि से प्रमुख एवं गौण, दो प्रकार की घटनाओं का आविर्भाव होता है, किन्तु काव्य अथवा साहित्य में केवल मुख्य घटनाओं को ही परिगृहीत किया जाता है। खेद का विषय है कि गुप्त जी ने उर्मिला के विरह-वर्णन में इस तथ्य का उचित ध्यान नहीं रखा। वास्तव में यदि उन्होंने इस विषय में अनावश्यक विषय-विस्तार का परित्याग कर केवल आवश्यक तत्त्वों को ही संक्षिप्त रूप में परिगृहीत किया होता तो वह अपेक्षाकृत अधिक सौन्दर्य का सृजन करने में सफल हो पाते।

गुप्त जी ने विरह-वर्णन करते समय कतिपय स्थलों पर ऊहात्मक-पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है। आधुनिक युग में इस प्रकार की प्रणाली का परिग्रहण काव्य की उस प्राचीन अवस्था की ओर संकेत करता है जब गम्भीर तत्त्वों की अपेक्षा मनोरंजन की सृष्टि करने वाले साधारण उपकरणों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। इससे वर्ण्य का नैसर्गिक सौष्ठव अधिकांश अंशों में शिथिल हो जाता है और कवि की अन्तर्चेतना का स्वरूप हमारे समक्ष पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता। गुप्त जी के 'साकेत' से एक इसी प्रकार का उदाहरण लीजिए:—

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय।
तो क्या अरी न आह भी करूँ आज निरुपाय ?

इस प्रकार के वर्णन हृदय पर किसी विशेष प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते। संतोष का विषय है कि गुप्त जी ने इस दिशा में अनावश्यक आग्रह का प्रदर्शन नहीं किया और प्रस्तुत पद्धति की परम्परा 'साकेत' में अधिक नहीं चलने पाई। इसके अतिरिक्त उर्मिला के विरह-वर्णन में उन्होंने एक और भी त्रुटि की है। उन्होंने उसे विरह की वशीभूता और अत्यन्त व्याकुलमना बनाकर प्रदर्शित किया है। यही कारण है कि उन्होंने उसके तत्कालीन व्यक्तित्व को अविरल रूप में अश्रु-सिक्त रखा है। सामान्य नारी के लिए नव वय में इस प्रकार के प्रथम और दीर्घकालीन विरह में इतना व्याकुल होना स्वाभाविक हो सकता है, किन्तु गुप्त जी का उद्देश्य उर्मिला को एक सामान्य नारी के रूप में चित्रित करना नहीं था। सीता ने पति के लिए राजभवन का परित्याग अवश्य किया था, किन्तु राम के साथ वन भी उनके लिए स्वर्गीय उद्यान के सदृश सुखद था। भारतीय परम्परा के अनुसार वियोगावस्था में पति की अनुपस्थिति के कारण भारतीय नारी गृह के सम्पूर्ण वैभव और समृद्धि से विरक्त रहती है और पति के साहचर्य में ही उसे वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है। अतः इस कारण भी सीता ने कोई विशेष त्याग नहीं किया। उर्मिला की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत थी और यही कारण है कि उसका त्याग उनसे कहीं अधिक महान् है। उसने अपने उद्यान एवं राज-भवन को भी पति की प्रसन्नता के लिए कानन के रूप में परिवर्तित कर लिया था। गुप्त जी का लक्ष्य उसके इसी त्याग-वैभव को हमारे समक्ष प्रस्तुत करना रहा है; अतः उसकी विरह-संकुल भावनाओं को अधिक विस्तार देना कहीं-कहीं उचित प्रतीत नहीं होता। गुप्त जी ने स्वयं अपनी इस त्रुटि को स्वीकार कर लिया था और उसमें सुधार का विधान करने की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'यशोधरा' नामक काव्य-कृति की रचना की थी। यशोधरा को भी उर्मिला की भाँति पति-वियोग की भीषण परिस्थिति में रोदन करना पड़ता है, किन्तु वह उसके फलस्वरूप किसी विशेष वेदना

का अनुभव नहीं करती, प्रत्युत वह इसे एक गौरव का ही विषय समझती है। उसे केवल एक तथ्य के स्मरण से ही व्यथा का अनुभव होता है और वह यह कि उसके प्रियतम महाभिनिष्क्रमण के समय उससे कुछ भी कह कर नहीं गये। उदाहरणार्थ उसका निम्नलिखित भाव-प्रतिपादन देखिए:—

हमीं भेज देती हैं रण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
क्षात्र-धर्म के नाते !
सखि ! वे मुझसे कहकर जाते !!

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि गुप्त जी को उर्मिला के विरह-वर्णन में सफलता प्राप्त नहीं हुई। उनका प्रमुख लक्ष्य यही रहा है कि उर्मिला को तिक्त वेदना, शुभ्र कर्त्तव्य एवं अमित अनुराग की त्रिपथगा के रूप में चित्रित करें और इस दृष्टि से उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। जहाँ उन्होंने उसकी वेदना का विस्तार किया है, वहाँ उसकी कर्त्तव्य-वृत्ति को भी कम विकसित नहीं दिखाया है।

१९. यशोधरा : एक विश्लेषण

'यशोधरा' में बौद्ध-धर्म के प्रणेता गौतम बुद्ध और उनकी पत्नी यशोधरा के चरित्र-विकास को आलोकित करने की चेष्टा की गई है। जिस समय पुत्र को अपने अंक में छिपाए, यशोधरा सुख-स्वप्न-निमग्ना थी, उसी समय संसार की नश्वरता का अनुभव कर अपने प्रबल मानसिक संघर्ष से परिचालित हो, गौतम बुद्ध मुक्ति के अन्वेषण-हेतु उसका त्याग कर चले गए।

'यशोधरा' में युग-युग की उपेक्षित नारी का हृदय बह उठा है। गौतम के वियोग में और उनकी उपेक्षा के फल में दग्ध होने पर भी यशोधरा अपनी असह्य वेदना और विषाद-भार का विस्मरण कर अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को ग्रहण कर राहुल का पालन करती है और जीवन-प्रांगण में उसके विकास के लिए उपयुक्त ललित कलाओं से उसे अवगत कराती है। यही कारण है कि तपस्या के फल की प्राप्ति के अनन्तर जिस समय गौतम जन-गण के मध्य में प्रवेश करते हैं, उस समय भी हृदय में मिलन की तीव्र उत्कण्ठा होने पर भी यशोधरा अपनी मान-भावना से परिवेष्टित होने के कारण दृढ़ व्रत का पालन कर उनके दर्शनों के लिए नहीं जाती और उनके स्वयं आने पर राहुल और अपनी, दोनों की विचार-धारा को पति की विचारधारा में समन्वित कर देती है।

'यशोधरा' के कथानक का मूल बीज गौतम के महाभिनिष्क्रमण में अन्तर्हित है। इस काव्य में यशोधरा ने कातर हृदय से वातावरण से सहायता ग्रहण करते हुए अपनी स्थिति का वर्णन किया है। आचार्य शुक्ल इसे प्रबन्ध-काव्य की कोटि के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार

शाश्वत सत्य के उद्घाटक गौतम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण से उपस्थित परिस्थितियों का चित्रण करने के कारण यह प्रबन्ध-काव्य है। परन्तु कवि ने अपने 'शुल्क' द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि उनकी इच्छा इसे किसी कोटि के अन्तर्गत रखने की नहीं है।

'यशोधरा' की रचना एक विशिष्ट युग का प्रभाव है। वास्तव में इसके द्वारा गुप्त जी की समन्वयवादी प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। युग का अनुमान करते हुए छायावाद की तात्कालिक कविता का अनुकरण करने के मोह में गुप्त जी ने 'यशोधरा' की रचना की। छायावाद के उस प्रारम्भिक युग में प्रतीकों एवं गेय गीतों का प्राधान्य था। छायावाद के समस्त सुन्दर भावों को ग्रहण करते हुए इस काव्य के गीतों की रचना में गुप्त जी पूर्ण सफल हुए हैं। 'यशोधरा' की प्रमुख विशिष्टता यही है कि कवि ने अपनी मौलिकता की पुट द्वारा इन छायावादी गीतों में भी अभिनव भावों की आयोजना की है। इसकी रचना के आधार छायावादी काव्यों के आधार से सर्वथा भिन्न है, अतः इसका मूल्यांकन भी नवीन दृष्टिकोण से होना चाहिए।

गुप्त जी ने भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों को मान्यता प्रदान करते हुए उनका प्रबल पोषण किया है। प्रस्तुत काव्य-रचना की प्रेरणा का मूल स्रोत उपेक्षित उर्मिला के आख्यान से सम्बन्धित है। पुरुष के द्वारा उपेक्षित नारी—यशोधरा—के चरित्र में गुप्त जी ने भारतीय नारी के उच्चादर्शों को पूर्णतः प्रस्थापित किया है। उपेक्षिता के हृदय में उद्भूत होने वाली विविध भाव-सरणियों का इसमें पूर्ण अंकन है।

'यशोधरा' की रचना विरह की पृष्ठभूमि पर हुई है, किन्तु विरह का सम्पूर्ण चित्रण इसमें उपलब्ध नहीं होता। प्रारम्भ से ही अत्यन्त जागरूक होने के कारण विरहिणी यशोधरा का विरह पूर्णतः प्रस्फुटित न हो सका है। गौतम के महाभिनिष्क्रमण को वह समस्त नारी-जाति के प्रति पुरुष की चुनौती के रूप में ग्रहण करती है। यही कारण है कि विरह

की कटु घड़ियों में भी अश्रु-प्रवाह के स्थान पर वह अपने अन्तस् को सावधान करने की ओर उन्मुख होती है। यथा:—

अब कठर हो वज्रादपि,
ओ कुसुमादपि सुकुमारि !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा,
अब है मेरी बारी ।

वास्तव में इतनी जागरूकता की किंचित् भी आवश्यकता न थी। यद्यपि यह सत्य है कि इसी स्थल पर यशोधरा ने अपनी व्यक्तिगत उपेक्षा को समग्र नारी-जाति के प्रति सामान्य उपेक्षा के रूप में ग्रहण कर अनेक प्रकार के उदात्त एवं श्लाघ्य भावों की अवतारणा की है, तथापि विरह के प्रसंग में उनकी अभिव्यक्ति कदापि समीचीन नहीं है।

उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्रियतम का स्मरण कर यशोधरा गौरव का अनुभव करती है, किन्तु उनके नारी की छाया से बचकर जाने के कारण वह मान से परिवेष्टित स्त्रियोचित आत्मग्लानि के भाव का प्रदर्शन करती है। इसी कारण उसकी शोक के उद्वेग से व्याकुल आत्मा पुकार उठी है:—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात ॥

इन पंक्तियों में सन्यासी गौतम के प्रति उसका तीव्र व्यंग्य भी अन्तर्हित है।

यशोधरा का हृदय 'अहं' भाव से पूर्णतः शून्य है। नारी-जाति की मान-मर्यादा, गौरव-प्रतिष्ठा का उसे सदैव ध्यान है। इसी कारण अर्थापत्ति अलंकार के माध्यम से वह कहती है:—

सखि वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

उक्त कथन में निश्चय ही मान को प्रश्रय प्रदान किया गया है,

किन्तु इस मान में मर्यादा की रक्षा की भावना भी अपने उत्कृष्ट रूप मे सन्निहित है ।

गौतम और यशोधरा का प्रणय-सम्बन्ध अत्यन्त दृढ़ सूत्रों से आबद्ध है । यद्यपि यह सत्य है कि दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित कंचन-कामिनी सम्बन्ध की हेयता को स्वीकार कर गौतम ने नारी को बन्धन-स्वरूपिणी मानकर ही उसका त्याग किया है, किन्तु यह भी सत्य है कि योग-दीक्षा प्राप्त कर संयम का जीवन व्यतीत करने के उपरान्त भी उन्हे सदाचार के रक्षण एवं परिपालन की आत्मिक प्रेरणा प्रेम की मूर्ति यशोधरा द्वारा ही प्रदत्त हुई है । उक्त प्रसग मे यशोधरा के गहन आत्म-समर्पण के भाव की व्यंजना होती है ।

यशोधरा के विरह-वर्णन मे व्यापकत्व होते हुए भी हृदय की सहज अनुभूति का अभाव है । विरह-विधुरा होने पर भी यशोधरा मे बौद्धिक पक्ष की प्रधानता के कारण रागात्मक तत्व का सम्पूर्ण विलोप है । विरह-वर्णन के हेतु साहित्य में सामान्यतः जिन उपादानो को स्वीकार किया जाता है, 'यशोधरा में प्राय: उन सभी का अभाव है । विरह के तीव्र-तम क्षणों में भी यशोधरा रुदन के कातर व्यापार के स्थान पर दर्प और अभिमान के भावों की अभिव्यंजना करती है । वास्तव में कर्त्तव्य-भार से अत्यधिक आक्रान्ता होने के कारण यशोधरा प्रस्तुत काव्य में विरह के आलम्बन-रूप मे उपस्थित न होकर किसी प्रतिपक्षी पात्र के रूप में अवतीर्ण होती है । उसके कर्त्तव्य की पुकार विरह-व्यथा और तद्जनित रुदन मे अधिक ऊँची हो गई है ।

प्रिय से वियुक्त होने पर भी उसके सान्निध्य का अनुभव करना प्रेम के चरम उत्कर्ष का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है । यशोधरा भी बनवासी प्रियतम के अपने हृदय में दर्शन कर एकत्व की भावना का सुन्दर परिचय देती है:—

सखि, प्रियतम हैं वन में ?
किन्तु, कौन इस मन में ?

विरहाभिव्यक्ति के इसी प्रसंग में अन्तर की विश्वास-दृढ़ता एवं मान-संयुक्त-भावना का वर्णन करना युक्तिसंगत नहीं है। निश्चय ही विरहिणी का निम्नांकित कथन स्वाभाविकता की सीमाओं का सम्पूर्ण अतिक्रमण कर गया है :—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान !

गुप्त जी ने विरह-वर्णन के हेतु 'यशोधरा' में परम्परा-भुक्त-शैली को भी स्वीकार किया है। ऋतु-वर्णन के द्वारा विरहाभिव्यक्ति की प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करते हुए गुप्त जी ने भी षड् ऋतु में होने वाले परिवर्तनों के द्वारा यशोधरा के भाव-परिवर्तन के चित्र अंकित किये हैं। अवश्य ही इन पदों में नागमती के ऊहात्मक वर्णनों के समान विरह की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना हो सकी है:—

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर त्यागे।

फिर भी गीतों के माध्यम से अनेक स्थलों पर गुप्त जी विरह की सक्षम एवं करुणाप्लावित अभिव्यंजना करने में समर्थ हो सके हैं। इन गीतों में हृदय के उद्गार अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुए हैं:—

कूक उठी है कोयल काली, ओ मेरे वनमाली !
छलक न जाय अर्घ्य आंखों का, गिर न जाय यह थाली,
उड़ न जाय पंछी पांखों का, आओ हे गुणशाली !

'यशोधरा' की रचना कदाचित् भारतीय नारी के उदात्त चरित्र के अंकन के लिए ही हुई है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में कवि की अपनी विशेष एवं पृथक् मान्यताएँ हैं। नारी का पद एवं गौरव सर्वत्र पुरुष के समकक्ष है। पुरुष के समान ही विश्व के समस्त पुनीत कर्मों में वह भी योग प्रदान करती है। गार्हस्थ्य-मर्यादा तथा दाम्पत्य-जीवन की मर्यादाओं

में विश्वास रखने वाली भारतीय नारी किसी भी दशा में अपने व्यक्तिगत सुखों को प्राधान्य नहीं देती। समर्पण एवं सेवा के भाव ही उसके जीवन के आराध्य रहते हैं। अतः पति एवं समाज के ऊपर अपने व्यक्तित्व का उत्सर्ग कर देने के पश्चात् वह उनके सुख में ही अपने सुख की प्रतिध्वनि का अनुभव करती है। प्रिय की ओर से प्रतारणा प्राप्त होने पर भी वह अपने ममतापूर्ण स्वभाव के कारण सजल-नेत्रवती होकर भी सबके प्रति स्निग्ध बनी रहती है। यशोधरा के विरह-वर्णन के प्रसंग में गुप्त जी ने नारी के इसी रूप का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में चित्रण किया है—

अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !

'यशोधरा' में नारी के जाया एवं जननी-रूप को ही स्वीकार किया गया है। उसके सर्वांगीण विकास के चित्र इसमें उपलब्ध नहीं हैं। अवस्था-भेद से उसके कुमारी एवं कामिनी-रूप भी होते हैं, किन्तु प्रस्तुत काव्य में इन दो रूपों की चर्चा नहीं है। जाया के रूप में गुप्त जी ने यशोधरा को नारी-धर्म से पूर्ण-रूपेण अभिज्ञ चित्रित किया है। इसी रूप में वह स्त्री-जन-सुलभ शुद्ध मान से भी प्रेरित दृष्टिगत होती है, जिसके द्वारा उसने अपने गौरव को अक्षुण्ण रखने की यथासाध्य चेष्टा की है। भारतीय दाम्पत्य-जीवन की सीमाओं के अनुसार अर्धांगिनी-भाव से युक्त होने के कारण अपने सहज-प्राप्त अधिकारों के प्रति किसी भी प्रकार की उपेक्षा अथवा अवहेलना की भावना को स्वीकार करने के लिए वह प्रस्तुत नहीं है।

राहुल-जननी के रूप में यशोधरा के चरित्र को गद्य एवं पद्य के दो भागों में व्यक्त किया गया है। पद्य-भाग में वात्सल्य के कुछ गीतों की अत्यन्त सुन्दर अवतारणा हुई है। वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति के हेतु लोरी के रूप में जिस गीत की रचना की गई है वह वास्तव में अत्यन्त रमणीय तथा श्री-सम्पन्न है। यथा:—

सो, अपने चंचलपन सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !
पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रह है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

गद्य-भाग में यशोधरा का जननी-रूप बौद्धिकता के तर्क-भार के कारण किंचित् शिथिल हो गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जननी ममतामयी और वात्सल्यमयी होती है। उसकी सफलता का तत्व इस तथ्य में सन्निहित है कि वह अपने पुत्र को उसके पिता के अनुरूप बनाने में संलग्न है। राहुल की अनुपस्थिति में विरह की संतप्त घड़ियों को यशोधरा कदाचित् इतनी सरलता से व्यतीत न कर पाती। जननी के इसी पुण्य पद से वंचित होने के कारण 'साकेत' की 'उर्मिला' प्रिय-स्मरण के किसी सुलभ साधन के न होने के कारण प्रिय-स्मृति के क्षणों में निस्तब्ध एवं जड़ होकर अन्तरतम में ही दग्ध होती रही है, किन्तु यशोधरा इसके विलोम रूप में राहुल को अतीत की कथाओं का ज्ञान कराने के व्याज से एक ओर जहाँ जननी के कर्तव्य का सम्पादन करती है, वहाँ दूसरी ओर प्रियतम का भी इसी माध्यम से सहज ही स्मरण कर लेती है।

'यशोधरा' में गोपा का जननी-रूप अंकित करते समय गुप्त जी ने अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। यशोधरा का अपत्य-स्नेह राहुल को सर्व प्रकार की विद्याओं से परिचित कराने की ओर उन्मुख है, किन्तु अनेक स्थलों पर माता एवं पुत्र का सम्वाद पुत्र को शिशु के धरातल से उठाकर बुद्धि-प्रौढ़ व्यक्ति के समकक्ष प्रतिष्ठित कर देता है जो निःसन्देह एक दोष है।

'यशोधरा' में नारी-भावना को गुंजित करते समय कवि का स्वर

समर्पण के आदर्श की स्थापना करने में ही सबसे ऊँचा उठा है। गौतम द्वारा यशोधरा का चुपके से परित्याग कर देना कवि को समग्र नारी-जाति पर एक लांछन के रूप में ग्रहणीय हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इसी लांछन के परिमार्जन के हेतु 'यशोधरा' में आदि से अन्त तक विविध भावों, गीतों, उक्तियों एवं शैलियों का समावेश हुआ है। वास्तव में नारीत्व की दुर्बलता में भी सफलता का आधान, उसकी कोमलता में भी कठोरता का सन्धान, उसके आत्म-समर्पण में भी आत्माभिमान का विधान तथा उसके संग्रह एवं ग्रहण में भी आत्मा का बलिदान चित्रित करने के लिए ही कवि ने यशोधरा' जैसे सरस काव्य का प्रणयन किया है।

'यशोधरा' की रचना द्वारा गुप्त जी ने अपनी उच्च कोटि की सामंजस्य-वादी प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है। प्रगीत मुक्तकों के प्रयोग के कारण इस काव्य की सृष्टि सरसता, सरलता एवं माधुर्य की त्रिवेणी के संगम पर हुई है। इसके प्रणयन में कवि ने अपनी सम्पूर्ण कला, विद्वत्ता एवं भावुकता का व्यय कर दिया है। वास्तव में यह काव्य अत्यन्त विशद कल्पनाओं, सरस कोमल अभिव्यंजनाओं एवं मार्मिक उक्तियों की प्राकृतिक रंगस्थली के रूप में परिवर्तित हो गया है।

'यशोधरा' की कथा नाटकीय सौन्दर्य तथा कवि के सहृदयत्व के सामंजस्य से अत्यन्त सुन्दर हो गई है। कवि ने यशोधरा की अन्तर्वृत्तियों का विस्तारपूर्वक परिचय देते हुए उसकी विरह-जनित तपस्या का यथार्थ मूल्यांकन किया है। वास्तव में कवि ने उसके चरित्र में अपनी व्यापक और गम्भीर अनुभूति के आधार पर मानव के चरित्र का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

'यशोधरा' की रचनाओं में कवि ने भावों की उदात्तता, विचारों के गाम्भीर्य और वर्णन की विशदता को अनुपम योग प्रदान किया है। इसमें भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित पात्रों के भावों की उच्च एवं सुन्दर व्यंजना

प्रस्तुत की गई है। रसों के अनुकूल कोमल, कठोर पदों की योजना तथा अलंकारों के स्वाभाविक सुष्ठु संचार से इस काव्य में नवीन सौन्दर्य की उद्भावना हो गई है। स्वच्छ, परिमार्जित, परिष्कृत एवं प्रसंगानुकूल भाषा से यह सौन्दर्य और भी द्विगुणित हो गया है। वास्तव में प्रिय के अनिर्दिष्ट प्रवास से व्यथित यशोधरा की मूक वेदना सहृदयों की हृदय-तन्त्री के तारों को झनझनाने की अतुल शक्ति रखती है।

'यशोधरा' में अन्तर्भावनाओं की अभिव्यक्ति, कल्पना की परिष्कृति एवं अभिरुचि की पूर्ण समन्विति दृष्टिगत होती है। इसमें सौन्दर्य, कर्म एवं वैराग्य का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित किया गया है। कला की सत्ता एवं जीवन के उदात्त लक्ष्य का अद्भुत मधुर उद्घाटन करने में कवि को पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। वास्तव में यशोधरा की मौन वेदना के अध्ययन से हमारे अन्तर में भी वैसी ही सहजानुभूति एवं उद्वेलन का उद्रेक होता है।

'यशोधरा' में नारी के जाया एव जननी के दोनों पार्श्वों को ग्रहण किया गया है। वियोग की भाव-व्यंजना करते समय कवि ने विरह-वर्णन की रूढ़िगत शैली का ही अवलम्बन लिया है। विरह की अन्तर्दशाओं तथा प्रकृति और मानव के सापेक्ष चित्रण एवं षड्ऋतु-वर्णन सभी परम्परागत हैं। 'यशोधरा' में भावात्मकता तथा कथानक के क्रमिक विकास का सम्यक् चित्रण किया गया है, किन्तु गीतों की भाव-प्रवणता के कारण कहीं-कहीं घटना-संघटन का क्रम टूट गया है। वास्तव में विरहिणी यशोधरा विरह के तीव्रतम क्षणों में भी कर्तव्य एवं आदर्शों के झंझावात से आन्दोलित हुई है, जो निश्चय ही एक दोष है।

'यशोधरा' मे यशोधरा का अंकन पत्नी, विरहिणी, आधुनिक विदुषी नारी एवं आदर्श माता के रूप में हुआ है। ये समस्त रूप यशोधरा को 'यशः धरा' अर्थात् यश को धारण करने वाली के रूप में चित्रित करने में पूर्ण सफल हुए है। यद्यपि गौतम का महाभिनिष्क्रमण गोपा के अज्ञान में

ही हुआ है, किन्तु वह इसे भी हृदय से ग्रहण करती है। उसकी वाणी के स्वर मुखरित हो उठते हैं :—

बस सिन्दूर बिन्दु से मेरा, जगा रहे यह भाल ।
वह जलता अंगार जला दे, उनका सब जंजाल ।।

उसके हृदय का स्वच्छ एवं आह्लादक प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हुए बिना न रह सका। वह कह उठी:—

जाओ नाथ, अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी ।

यद्यपि यशोधरा को एक गर्विता नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु कवि ने उसके जाया-रूप में अन्तर्हित महत्व को भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। यही कारण है कि मान के क्षणों के पश्चात् सदैव उसके हृदय-प्रदेश के अन्तर्भूत पति-प्रेम के सरस भाव फूट पड़े हैं। वास्तव में उसने अपने हृदय की इस विशालता का पद-पद पर परिचय दिया है। सखियों के प्रति उसका निम्नलिखित कथन इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है :—

"सारा विश्व जिनका कुटुम्ब है, उन्हें मातृभूमि का बन्धन कैसे बाँध सकता है ।"

गुप्त जी ने यशोधरा के चरित्र को हमारे सम्मुख एक चिर-वियोगिनी नारी के रूप में उपस्थित किया है। एक बार खोकर उसने अपने प्रियतम को सदैव के लिए खो दिया। प्रियतम द्वारा मुक्ति-पथ के अवलम्बन का इतना दुःख उसे नहीं हुआ, जितना कि इस तथ्य का कि जीवन-सिद्धि के कार्य में उन्होंने उसे बाधा-स्वरूपिणी समझा और अपने उक्त निश्चय से उसे अवगत नहीं कराया। अपने हृदय की उच्चता के कारण त्याग करने में वह तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करती और यही कारण है कि वह यह कहने में समर्थ हो सकी:—

मिला न हा ! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग !

देती उन्हें बिदा में गा कर,
भार झेलती गौरव पाकर,
यह निःश्वास न उठता हा कर,

बनता मेरा राग न रोग,
मिला न हा ! इतना भी योग ।

गौतम के समान त्यागी पुरुष की पत्नी में स्वभावतः ही जिसकी अपेक्षा की जा सकती है, उत्तरदायित्व के उस सामर्थ्य का निर्वाह करने में यशोधरा पूर्णतः सफल हुई है । गौतम के महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् शुद्धोदन को समझा सकने वाली नारी निश्चय ही इसकी उत्कृष्ट प्रमाण है ।

जाया के अतिरिक्त यशोधरा का जननी-रूप भी अत्यन्त मनोहारी एवं सुन्दर बन पड़ा है । हमारी समझ में उसका यह रूप निश्चय ही उर्मिला के सन्त जीवन का द्वितीय पृष्ठ है और इसी से समन्वित रहने के कारण वह वियोग में भी जीवन-लाभ कर सकी है । पति की अनुपस्थिति में पुत्र ही उसके जीवन का आधार है :—

मेरी मलिन गुदड़ी में भी, है राहुल सा लाल ।

यशोधरा का यह स्वरूप अत्यन्त भव्य एवं आनन्दप्रद बन पड़ा है । जिस पुत्र को प्राप्त कर यशोधरा यशोधरा बन गई, उसके अभाव में उर्मिला का दुःख अवश्य ही द्विगुणित हो उठा होगा । विरह के तीव्रतर क्षणों में भी यशोधरा के समान यह कहने का सुयोग उसे प्राप्त न था :—

ठहर बाल-गोपाल कन्हैया, राहुल राजा भैया ।
आ मेरी गोदी में आ जा, मैं हूँ दुःखिनी मैया ।
रोने से यह रिस ही अच्छी, तिलीलिली तार्थैया ।।

पुत्र की बाल-सुलभ चेष्टाओं को लक्षित कर यशोधरा वातावरण में सर्वत्र सुख ही सुख के दर्शन करती है । उसके चरित्र का यह अंश मनन का विषय है, आदर्श के स्थापन के तत्व से युक्त है ।

जननी और जात के वार्तालाप अपनी सहज स्वाभाविकता से ओत-प्रोत होने के कारण अत्यन्त मनोमुग्धकारी हो गये हैं। उसके मधुर उपदेश अवश्य ही राहुल के जीवन का सुयोग्य निर्माण कर उसे एक आदर्श समाज का सफल सदस्य बनाने में समर्थ हैं। माता की स्नेहसिक्त वाणी से निस्सृत एक वाक्य ही सन्तान को गूढ़ से गूढ़ तात्विक तथ्य समझाने में समर्थ है। यशोधरा का राहुल के प्रति निम्नलिखित कथन इसका स्पष्टतम उदाहरण है :—

वत्स यही मन जब निश्चलता पाता है ।
आकर इसी में तब सत्य समा जाता है ॥

माता एवं पुत्र के सम्वादों का यह प्रसंग निश्चय ही कवि की रचना का एक श्रेष्ठ अंग है। इस स्थल पर मातृ-हृदय के वात्सल्य एवं स्नेह की अगणित धाराएँ फूट पड़ी हैं जिनमें अवगाहन कर सहृदय सामाजिक अनन्त रस का उपभोग करता है। अपने हृदय का सम्पूर्ण अमृत उँडेल देने के पश्चात् माता पुत्र को आशीर्वाद देती है :—

तुम कवि होने के साथ, कविता के विषय भी हो जाओ।

अपत्य स्नेह का यह सुख केवल मातृ-हृदय की अनुभूति का ही विषय है। माता का यह प्रेम लोरी के रूप में कितने वेग से प्रकट हुआ है:—

खेले मन्द पवन अलकों से,
पोछूँ मैं उनको पलकों से ।
छद-रद की छवि की छलकों से,

पुलक-पूर्ण शिश-यौवन सो !
सो, मेरे अंचल धन सो ॥

राहुल के जीवन का भविष्य यशोधरा के उपदेशों में निहित है। एक स्थल पर वह कहती है :—

"बेटा, पुरुषों के लिए स्वावलम्बी होना ही उचित है। दूसरों का भार बनना उनके पौरुष का अनादर करना है।"

वास्तव में इसी प्रकार की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करने से मनुष्य सफलता के स्वर्ण-शिखर पर आरोहण करने में समर्थ होता है।

अन्त में यशोधरा का यह अपत्य स्नेह पूर्णता को प्राप्त होता है और यशोधरा मंगल-विधायिनी विश्व-माता का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करती है। काव्य के अन्तिम परिच्छेद में उसका यह स्वरूप अत्यन्त निखर कर हमारे सम्मुख आया है :—

> तुम भिक्षुक बनकर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
> था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी ?
> मेरे दुःख में भरा विश्व सुख, क्यों न करूँ फिर मैं हामी ?
> बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि !

'यशोधरा' गुप्त जी के स्निग्ध कवि-हृदय की मंजुल सौन्दर्य निधि है। हृदय की सरसता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध्य एवं कोमल मानवीय भावनाओं को भी इसमें उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। इस गीति-काव्य में गुप्त जी ने मनोवेदना एवं भावुकता के जो स्रोत बहाये हैं, उनमें ऐसा प्रतीत होता कि मानो कवि के अन्तर का स्पन्दन एवं कम्पन ही मूर्तिमान हो आविर्भूत हो उठा हो ! वास्तवमें कवि ने चिर-उपेक्षिता विधुरा नारी के अन्तराल से जिन विरहोच्छ्वासों को प्रकट कराया है, उनमें उसके मनोलोक की आन्तरिक संवेदना और भी अधिक जाग्रत रूप में प्रकट हुई है। नारी की मौन-साधना एवं विश्व-सद्भावना का उद्घाटन करने वाले आकर्षक एवं वेग-पूर्ण भव्य गीतों में निश्चय ही कवि का आत्मिक सौन्दर्य पूर्ण रूप से लहलहा उठा है।

प्रायः कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण करने के हेतु वातावरण के प्रभाव को मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया है, किन्तु गुप्त जी ने अपनी

मौलिकता का उत्कट परिचय देते हुए एक ऐसे रूप की सृष्टि की है, जिसमें करुण एवं विप्रलम्भ, दोनों ही रसों के समन्वय द्वारा एक गरिमामयी साधना की शान्ति साकार हो उठी है। वियोग की उन्मादकता के स्थान पर वहाँ करुणा की उत्ताल तरंगें और माधुर्य की पावन धारायें ही दृष्टिगत होती हैं। कालिदास के 'मेघदूत' के यक्ष की विरह-अवधि निश्चित है और उसकी समाप्ति पर प्रिया से उसका मिलन अवश्यम्भावी है, किन्तु गुप्त जी की यशोधरा की विरह-अवधि अनिश्चित है और उसकी समाप्ति पर भी प्रिय से उसके मिलन की कोई निश्चित सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि 'मेघदूत' और 'यशोधरा', दोनों ही अपनी पृथक्-पृथक् विशिष्टताओं के कारण अपने-अपने कवियों को महाकवि की श्रेणी में प्रस्थापित करने के गुणों से युक्त हैं।

यशोधरा का पार्थिव वियोग अनन्त है। उसके करुणा एवं स्नेह से आप्लावित मानस को पुरुष की ओर से जो प्रतिदान प्राप्त हुआ है, उसी के कारण उसे कहना पड़ा है :—

> अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

किन्तु फिर भी भारतीय आदर्श से अनुप्राणित होने के कारण वह सन्तुष्ट है, प्रिय की मंगल-कामना की भावनाओं से ओत-प्रोत है। अपने आत्म को पूर्ण रूप से प्रिय के चरणों में समर्पित कर वह कह उठती है:—

> (अ) जायें, सिद्धि पावें वे सुख से,
> दुखी न हों इस जन के दुख से॥

> (ब) उसमें मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे।

प्रेम की यह निरपेक्षता (Absolute Love) ही भारतीय नारी की प्रमुख विशेषता है। 'पंचवटी' में सीता ने लक्ष्मण के सम्मुख उर्मिला का प्रसंग ले प्रेम के इसी रूप का उदघाटन किया है:—

आज उर्मिला की चिन्ता, यदि तुम्हें चित्त में होती है,
कि वह विरहिणी बैठी, मेरे लिए निरन्तर रोती है—
तो मैं कहती हूँ, वह मेरी बहिन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुनकर पीछे भी पावेगी सच्चा सन्तोष ।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही हम सब कुछ भर पाती हैं,
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं' यही ध्यान में लाती हैं ।।

गुप्त जी की 'यशोधरा' में विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण हुआ है । जयदेव के 'गीत-गोविन्द' और विद्यापति की 'पदावली' के मधुर नाद-सौन्दर्य से वंचित होने पर भी 'यशोधरा' के गीतों में विप्रलम्भ के हृदयहारी विषय को अत्यन्त स्पष्ट रूप प्राप्त हुआ है । 'प्रिय-प्रवास' में विरह की पृष्ठभूमि के धूमिल एवं कृत्रिम होने के कारण हृदय की वेदना अस्पष्ट ही रही है, किन्तु 'यशोधरा' में विरह की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है और करुणा का वातावरण अत्यन्त गहन है । यही कारण है कि उसमें 'प्रिय-प्रवास' के समान केवल भावों का अभिनय मात्र न हो पाया है, उसका विरह-पूर्ण परिपुष्ट एवं सबल है । वास्तव में 'यशोधरा' में प्राप्त होने वाली विरह की अभिव्यंजना गुप्त जी को जायसी की कोटि में ले जाती है, उसमें उपलब्ध होने वाली कारुण्य की मात्रा उन्हें भवभूति की समकक्षता प्रदान करती है, उसमें प्रतिबिम्बित कला-भावना उन्हें कालिदास से तुलनीय बताती है और उसके विरह-वर्णन में प्राप्त होने वाली संयम की भावना उन्हें तुलसी का अनुगामी सिद्ध करती है ।

'यशोधरा' में गुप्त जी की कोमल कल्पना और प्रौढ भाव-व्यंजना की सहज उद्भूति उपलब्ध होती है । सार्वजनीन दृष्टिकोण से उपलब्ध होने के कारण इसमें उसके समष्टिगत चिन्तन एवं व्यापक तथा उन्मुक्त भाव-क्षेत्र के पूर्ण दर्शन होते हैं । कवि की आन्तरिक अनुभूतियों एवं प्रेरणा-मय व्यक्तित्व से परिपूरित होने के कारण यह विशेष रूप से दृष्टव्य है । इसमें कवि ने मानव-जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी भावनाओं का अत्यन्त

उत्कृष्ट समावेश किया है। इसके कितने ही गेय पद कवि की उन्मुक्त कल्पनाओं एवं मधुर भावनाओं से समन्वित होने के कारण हृदय को स्पन्दित करने वाली शक्ति से ओत-प्रोत हो गये हैं। उनके भाव निरभ्र आकाश-मण्डल के समान स्वच्छ हैं। वास्तव में इन गीतों की सृष्टि मन्दाकिनी के कल-कल नाद में हुई है और संगीत के सरस स्रोत में मज्जन कर इन्होंने पूर्णता को प्राप्त किया है। एक सुन्दर उदाहरण देखिए:—

रुदन का हँसना ही तो गान !
गा-गा कर रोती है मेरी हृतंत्री की तान ।।
मीड़-मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक,
चातक की हुत-हृदय-हृति जो, सो कोयल की कूक।
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान !

'यशोधरा' में आदि से अन्त तक विश्व-प्रेम की चेतना एवं स्फूर्तिदायक भावना व्याप्त है। जिस प्रकार समस्त संसार की कर्म-भावना का संचालन किसी एक केन्द्रित शक्ति द्वारा होता है, ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत काव्य की समस्त भाव-धाराओं का उद्गम-स्थल भी केवल एक यशोधरा का हृदय ही है। यशोधरा ने अपनी विश्वजनीन भावनाओं से सत्य ही एक अपूर्व आत्म जगत् की सृष्टि कर ली है। यद्यपि उसकी अश्रु-साधना पूर्ण रूप से मुखरित न हो सकी है, तथापि आकाश-तत्व की भाँति उसने सम्पूर्ण नारी-लोक को आच्छादित कर रखा है। कपिलवस्तु के राजगृह की उस एकान्तवासिनी ने निश्चय ही समग्र नारी-जाति के लिए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है।

मानस में उठने वाली अनुभूतियों की तरंगों के कारण राज-वधू यशोधरा की वेदना शमन को प्राप्त होने के स्थान पर प्रगति के पथ की ओर अग्रसर होती है। उसके विरह की करुणा के दर्शन कर पाठक को सहज ही उससे यथार्थ सहानुभूति हो जाती है, किन्तु दृढ़ता एवं गाम्भीर्य

के कारण यशोधरा विरह के उस स्रोत में अपने को पूर्ण रूप से बहने नहीं देती। उसके हृदय में वेदना के प्रबल झंझा आते हैं, किन्तु प्रयत्न करने पर भी वे उसके चरण उखाड़ नहीं पाते। तथ्य यह है कि प्रियतम ने अपने निश्चय की सूचना दिये बिना ही चले जाने की धृष्टता कर उसकी जो अवमानना की है, उसके प्रत्युत्तर में वह अर्द्धांगिनी भी अपने स्थान पर निश्चल है।

पति के वियोग में यशोधरा इतनी कृश-काया हो गई है कि स्वयं उसका पुत्र ही संयोगावस्था के एक चित्र में उसे नहीं पहचान पाता। चित्र देखकर वह कहता है:—

"यह मेरी मौसी है, मुख माँ के मुख से मिलता है। इतना गौरव नहीं है, परन्तु सरलता ऐसी ही है। क्यों माँ, है न मौसी ही?"

और यह उसकी उसी स्नेहमयी जननी का ही चित्र था।

अन्त में विरह की इस दुःखदायिनी परिस्थिति की भी समाप्ति होती है और संयोग के मधुर वातावरण का मृदु प्रादुर्भाव होता है। विषाद-मयी गोपा पुनः प्रफुल्लित हो उठती है, किन्तु उसके गर्विणी के रूप ने संयोग के इस अवसर को शुद्ध रूप से उभरने का अवकाश नहीं दिया। इतना होने पर भी पति के शुभागमन के संवाद का श्रवण करने के लिए उसका हृदय उत्सुक हो उठता है। इसी औत्सुक्य के भाव से प्रेरित हो वह कहती है:—

'लाभ से ही लोभ', यह कैसी खरी बात है,
आली कुछ और सुनने की चाह होती है!

उक्त अवसर पर सखियों के साथ वार्तालाप करते समय उसकी अन्तः स्थिति का पूर्ण उद्घाटन होता है। आनन्दातिरेक के कारण वार्तालाप के मध्य में वह बारम्बार गतिरोध उत्पन्न कर देती है, किन्तु शीघ्र ही इस अनौचित्य को लक्ष्य कर वह सखी से इसके लिए क्षमा-याचना कर लेती है—

बार-बार बीच में जो, बोल उठती हूँ मैं,
उसको क्षमा कर तू, आली साँस लेनी हूँ।

उक्त कथन से यशोधरा के चरित्र का भी यथास्थान बोध होता है।

पति के आगमन का संवाद प्राप्त कर यशोधरा का प्रफुल्लित होना स्वाभाविक ही है। भारतीय नारी के अनुरूप ही वह कृतकृत्यता का अनुभव करती है:—

यदि यह सत्य है, तो मैं भी कृत्य-कृत्य हूँ।
आज सुख से भी निज दुख मुझे प्यारा है॥

यशोधरा के अन्तर में एक तर्कपूर्ण नारी का रूप भी वर्तमान है। पति से वियुक्त होने पर भी उसे इस बात का गर्व है कि वह उर्मिला की भाँति पुत्रहीना नहीं है:—

मेरी मलिन गूदड़ी में भी, है राहुल सा लाल।
क्या है अंजन अंग-राग जब, मिली विभूति विशाल॥

उसी समय उसके नेत्रों के सम्मुख अपने पाणि-ग्रहण के अवसर का सम्पूर्ण दृश्य उपस्थित हो गया और उसके अन्तर में अवस्थित मान-भावनना घनीभूत हो उठी। इसी कारण गौतम की अनुपस्थिति में वह कहती है:—

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी, तो उसकी क्या गति है।
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ, मेरी भी कुछ मति है॥

यशोधरा की यह मान-भावना निश्चय ही अनुभव की वस्तु है, किन्तु इससे भी पूर्व अवलोकनीय है, उसका वह प्रेम जिसकी अनन्यता को लक्षित कर शुद्धोदन को भी कहना पड़ा था :—

गोपा बिना गौतम भी, ग्राह्य नहीं मुझको।

'यशोधरा' में नारी के लिए जिस मूक साधना को, नीरव वेदना को गुप्त जी ने——

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।।

—इन शब्दों में इतने सरल रूप में प्रतिपादित कर दिया है, वह निश्चय ही स्तुत्य है । विश्व-कल्याण की भावना से अभिभूत नारी के इस रूप को खद्योतों और उडुगणों की कौन कहे सूर और तुलसी जैसे महाकवि भी कहाँ देख पाये हैं ? भारतीय नारी की इस कर्मण्यता को इतने विशद रूप में और इतने उच्च धरातल पर स्थापित करने का कार्य केवल उदार, उन्मुक्त एवं स्वच्छ हृदय वाले कविवर गुप्त जी का ही कार्य है ।

२०. 'कामायनी' में छायावादी प्रवृत्ति

छायावाद का उद्‌भव द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। उसके अन्तर्गत युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने आत्मबद्ध अन्तर्मुखी रूप धारण कर लिया था। छायावाद ने काव्य के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष, दोनों की ही दृष्टि से हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में एक नवीन सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की। छायावादी कवियों में 'प्रसाद', पंत, 'निराला' और महादेवी मुख्य हैं। इन सभी कवियों में 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' के विराट् और समबुद्ध रूपक-तत्व की योजना द्वारा छायावादी काव्य को सर्वश्रेष्ठ कृति प्रदान की है।

छायावाद का विश्लेषण करने पर हमारे समक्ष उसके निम्नलिखित तत्व सहज स्पष्ट हो जाते हैं——

(१) सौन्दर्य-दर्शन।
(२) विषाद और कारुण्य।
(३) व्यक्तिवाद।
(४) प्रकृति-प्रेम।
(५) नीति-विद्रोह।
(६) परोक्ष सत्ता-दर्शन।
(७) शैली-विषयक नवीन प्रयोग।

इन तत्वों में से प्रथम छः तत्वों का सम्बन्ध काव्य के भाव-पक्ष से और अन्तिम तत्व उसके काव्य पक्ष से सम्बद्ध है। 'कामायनी' में छायावाद की इन सभी प्रवृत्तियों का समाहार हुआ है।

(१) **सौन्दर्य-दर्शन**:—छायावादी कवियों ने जहाँ एक ओर प्राकृतिक सौन्दर्य को अपने काव्य का विषय बनाया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने मानवीय सौन्दर्य को भी मौलिक रूप में उपस्थित किया है। 'कामायनी' में प्रकृति के विभिन्न छवि-चित्रों का रम्य प्रतिपादन हुआ है। यथाः—

लतिका घूंघट से चितवन की,
वह कुसुम दुग्ध-सी मधु-धारा।
प्लावित करती मन-अजिर रही,
था तुच्छ विश्व वैभव सारा॥

—('काम' सर्ग)

मानवीय सौन्दर्य का अंकन करते समय छायावादी कवियों ने रीति-काल के पार्थिव सोन्दर्य-चित्रण के रूप का परित्याग कर मानव-सौन्दर्य के अनेक सूक्ष्म चित्र उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ 'कामायनी' के 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा के सौन्दर्य की प्राकृतिक सौन्दर्य से उपमा देते हुए कवि ने उसे जिस सूक्ष्म भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है वह छायावाद की इसी सौन्दर्य-प्रतिपादन विषयक नवीन शैली का परिचायक है:—

घिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंस-अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास॥

(२) **विषाद और कारुण्य**:—छायावादी कवियों ने समाज के रूढ़िगत बन्धनों के कारण उत्पन्न परिस्थितियों का भी निराशामय चित्रण किया है। उनके अनुसार इस प्रकार के बन्धन वैयक्तिक स्वतन्त्रता को नष्ट कर मन में निराशा को जन्म देते हैं। जिस समय छायावाद का आविर्भाव हुआ उस समय समाज में घोर वैषम्य की स्थिति वर्तमान थी और वर्ग-संघर्ष के कारण सर्वत्र दुःख और निराशा का प्रसार था। छायावादी कवियों ने तत्कालीन वातावरण की इस स्थिति का अंकन करते हुए अपने

काव्य में विषाद और करुणा की भावना का विकास प्रदर्शित किया है। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में इस भावना का आनन्दवादी कवि होने पर भी इसी कारण ग्रहण किया है। मनु अनेक बार जीवन में निराशा का अनुभव करते हैं। वैषम्य के आधिक्य के कारण देव-सृष्टि का विनाश होने पर मनु का हृदय स्पष्ट ही व्यथा से पूर्ण हो जाता है। उदाहरणार्थ चिन्ता के विषय में उनका निम्नलिखित वक्तव्य इसी विषाद-भावना का परिचय देता है :—

> अरी व्याधि की सूत्र धारिणी,
> अरी आधि मधुमय अभिशाप।
> हृदय-गगन में धूम-केतु-सी,
> पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप ॥

(३) **व्यक्तिवाद**—छायावादी कवियों ने बहिर्जगत् की अपेक्षा काव्य में अन्तर्जगत् के चित्रण को विशेष महत्व प्रदान किया है और इसी कारण उनके काव्य में 'स्व' की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। द्विवेदी युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर व्यक्तिवाद के समावेश के कारण छायावादी कविता भावात्मक बन गई। यद्यपि 'कामायनी' में पौराणिक कथानक का आधार ग्रहण करने के कारण कवि के पास आत्माभिव्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत कम अवकाश था, तथापि 'प्रसाद' जी ने मनु और श्रद्धा की उक्तियों द्वारा अनेक स्थलों पर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। 'कामायनी' में यही व्यक्तिवाद अन्त में आनन्दवाद के रूप में परिवर्तित हो गया है। कवि के आत्मगत भावों के स्पष्टीकरण का एक ऐसा ही उदाहरण मनु के द्वारा काल्पनिक विश्व के विषय में किये गये निम्नलिखित चिन्तन में निहित है:—

> आह कल्पना का सुन्दर यह,
> जगत मधुर कितना होता।

सुख स्वप्नों का दल छाया में,
पुलकित हो जगता सोता ।।

(४) **प्रकृति-प्रेम** :—छायावादी कवियों ने प्रकृति को एक सचेतन सत्ता के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने उसे निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपन शैली के रूप में उपस्थित करने का स्पष्ट विरोध किया है। छायावादी कवियों ने प्राय: प्रकृति का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है और उसे नारी के रूप में चित्रित करते हुए उसके प्रति अपनी अनुराग-भावना का कथन किया है। वास्तव में द्विवेदी युग के प्रबल नैतिक आन्दोलन से सहमे हुए कवि में इतना साहस ही न रहा था कि वह नारी का स्पष्ट चित्र उपस्थित कर सके। 'प्रसाद' जी ने छायावादी प्रवृत्ति के अनुकूल प्राकृतिक उपकरणों के अनेक आकर्षक रूप उपस्थित किये हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में रजनी-रूपी रमणी की आकर्षक चेष्टाओं का वर्णन इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है:—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम चूम चल जाती,
पढ़ी हुई किस टोने से ।।

'प्रसाद' जी ने प्रकृति के रम्य छवि-चित्रों का अंकन करने के साथ-साथ उसके भयंकर रूप का भी यथावत् दिग्दर्शन कराया है। इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक जागरूक रहे हैं।

(५) **नीति-विद्रोह** :—हिन्दी-काव्य के द्विवेदी युग में रीतिकालीन शृंगार काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में केवल शुष्क उपदेशात्मकता तथा नीति-प्रधान इतिवृत्तात्मकता का ही समावेश हुआ था। नारी तथा उससे सम्बन्धित कोमल भावनाओं का वहाँ लगभग एकान्त अभाव था। छायावाद ने शृंगार-भावना को अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए द्विवेदी

युग के नीति-विषयक आग्रह का विरोध किया। उन्होंने रीतिकालीन काव्य की वासना को प्रेरणा देने वाली नारी के स्थान पर नारी के विस्मयपूर्ण सौन्दर्य-रूप का चित्रण करने पर बल दिया है। छायावाद में इस अतीन्द्रिय श्रृंगार के दो रूप रहे हैं :—

(१) प्रकृति पर नारी-भाव का आरोप।

(२) नारी के मन और आत्मा का सौन्दर्य-चित्रण।

'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में श्रद्धा के मन और आत्मा के सौन्दर्य का प्रचुर चित्रण किया है। उन्होंने श्रद्धा के शरीर-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए जहाँ उसे मनु की वासना को पूर्ण करते हुए दिखाया है, वहाँ उन्होंने उसके चरित्र की दिव्यता और महानता का भी उत्कृष्ट चित्रण किया है। यथा :-

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥

(६) **परोक्ष सत्ता-दर्शन** :—छायावादी कवि प्रकृति का चित्रण करते समय उसमें किसी परोक्ष सत्ता के शासन-सूत्र के विकास के भी दर्शन करते हैं। उन्होंने प्रायः ईश्वर की सृष्टि के विभिन्न रूपों के प्रति विस्मय-भाव का चित्रण किया है। 'कामायनी' में इस भावना का अनेक स्थानों पर समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ 'आशा' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये:—

छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए।
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए॥

(७) **शैली-विषयक नवीन प्रयोग** :—छायावाद ने भाषा की अभि-व्यंजना शक्ति में विकास-परिष्कार उपस्थित करते हुए कला को विशेष

सजगता प्रदान की है। इस शैली में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर वक्रता, व्यंजना और संकेतों का प्रयोग हुआ है। 'कामायनी' में छायावाद की शैली-विषयक विविधताओं का इस रूप में संयोजन किया गया है:—

(१) **प्रतीकात्मकता** :—छायावादी कवियों ने प्रायः शब्दों को उनके मूल रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा उनके समानधर्मी प्रतीकों का आश्रय लिया है। 'कामायनी' के 'काम' सर्ग में 'वसन्त' को 'यौवन' के प्रतीक के रूप में अंकित किया गया है:—

मधुमय वसन्त जीवन वन के,
बह अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से,
रजनी के पिछले पहरों में ॥

यहाँ रजनी के पिछले पहर वयः सन्धि के प्रतीक हैं।

(२) **चित्रात्मकता** :—छायावादी कवि वस्तु-वर्णन करते समय प्रायः यह प्रयास करते हैं कि अध्येता की कल्पना में वर्णित पदार्थ का एक साकार चित्र उपस्थित हो जाये। 'कामायनी' में कवि ने अभिधा का अल्प प्रयोग करते हुए इस प्रकार की चित्र-भाषा को अनेक स्थानों पर ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ श्रद्धा की रूप-छवि का निम्नलिखित काव्यमय चित्रण देखिए:—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त।
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल,
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ॥

(३) **अलंकार-प्रयोग** :—'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में छायावादी प्रणाली के अनुकूल स्थूल उपमानों के स्थान पर सूक्ष्म और चित्र-विचित्र उपमानों का प्रयोग किया है। इन उपमानों के अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी

के मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय आदि लक्षणामूलक अलंकारों का भी प्रयोग किया है । यथा:—

(अ) **मानवीकरण** :—प्राकृतिक उपकरणों को मानवीय चेतना से सम्पन्न रूप में चित्रित करने की प्रणाली को मानवीकरण कहते हैं । 'कामायनी' में इस अलंकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यथा रात्रि के प्रति मनु की निम्नलिखित उक्ति देखिए:—

फटा हुआ था नील वसन क्या,
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिंचन जगत लूटता,
तेरी छवि भोली भाली ॥

(आ) **विशेषण-विपर्यय** :—यह अलंकार उस समय होता है जब विशेषण को उचित स्थान पर न लगाकर उससे सम्बद्ध किसी अन्य स्थल पर अर्थान्तर के बिना प्रयुक्त किया जाये । उदाहरणार्थ:—

देखा मनु ने वह अतिरंजित,
विजन विश्व का नव एकान्त ।
जैसे कोलाहल सोया हो,
हिम शीतल जड़ता-सा श्रान्त ॥

इस पद्यांश में कोलाहल को सुप्त दिखलाया गया है, किन्तु वास्तव में यह सम्भव नहीं है ।

(४) **ध्वन्यर्थ व्यंजना**:—जहाँ ध्वनि से ही अर्थ की व्यंजना हो जाये वहाँ कवि के इस काव्य-कौशल का परिचय प्राप्त होता है । 'कामायनी' के 'दर्शन' सर्ग के निम्नलिखित पद में इसी ध्वन्यर्थ व्यंजना का रूप उपलब्ध होता है:—

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित् ।

नट राज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित ।।

(५) **छन्द-विधानः**—छायावादी कवियों ने प्राचीन छन्दों के प्रयोग के अतिरिक्त मुक्त छन्द की नवीन शैली को भी ग्रहण किया है। वास्तव में उन्होंने छन्द-विधान में स्वर के कोमल सौन्दर्य को ही आधार बनाया है । 'कामायनी' के 'इड़ा' सर्ग में छायावाद की कोमल स्वरों पर आधारित मिश्रित छन्द-योजना वाली इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं ।

इस प्रकार हमने देखा कि 'कामायनी' में छायावाद की मुख्य विशेषतायें किसी न किसी रूप में अवश्य ग्रहण की गई हैं और महाकाव्य के रूप में हिन्दी की छायावादी रचनाओं में उसका अन्यतम महत्व है।

२१. 'कामायनी' में रूप-चित्रण

हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' उनकी समग्र काव्य-कृतियों में शीर्ष स्थान की अधिकारिणी है। इसके अन्तर्गत मनु की ऐतिहासिक जीवन-गाथा को सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यद्यपि कवि ने अपने काव्य के इतिवृत्त का चयन ऐतिहासिक पृष्ठों से ही किया है तथापि उन्होंने अपनी रम्य कल्पना के सामंजस्य के द्वारा उसे इतना मौलिक तथा मनोरम रूप प्रदान किया है कि 'कामायनी' की सम्पूर्ण काव्य-श्री अत्यन्त निखरे हुए रूप में अध्येता के समक्ष प्रस्तुत होती है ।

'कामायनी' में रूप-चित्रण के तत्व को अत्यन्त सुन्दर रीति से संघटित किया गया है। मानव की सौन्दर्य-वृत्ति को अधिकाधिक परितुष्ट करने के कारण यह तत्त्व अनादि काल से साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता रहा है। काव्य में रस, आनन्द, लोकरंजन और रमणीयता के गुणों का समावेश करने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें विभिन्न सौदर्यमूलक तत्वों का विशद आधार पर संघटन किया जाये। रस एवं आनन्द आदि की चेतना का मूल सम्बन्ध सौन्दर्य से ही है और ये सभी क्रमशः उसके लिए प्राण-तत्व के सदृश हैं । सौन्दर्यमूलक सूत्रों से समन्वित होने पर काव्य की नैसर्गिक तथा कलागत श्री इतने अधिक निखरे हुए रूप में अध्येता के समक्ष उपस्थित होती है कि वह बरबस उस ओर एक आकर्षण का अनुभव करने लगता है। केवल सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा व्यापक अनुशीलन-प्रतिभा से सम्पन्न कवि ही इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकता है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' में इस तरह की भावयित्री प्रतिभा अपने चरम रूप में

वर्तमान थी। यही कारण है कि वह अपने लक्ष्य की सिद्धि में पूर्ण सफल हो सके हैं। उनकी 'कामायनी' में अंकित किये गये समग्र सौन्दर्य-चित्र अपने में इतने मधुर तथा रम्य हैं कि भावक की चेतना का तुरन्त ही स्पर्श करते हैं। उनके अवलोकन से अध्येता को ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वे अपनी पृथक् अन्तर्चेतना को लेकर उसकी सौन्दर्य-वृत्ति का आह्वान कर रहे हों।

काव्य के विभिन्न तत्व सौन्दर्य-भाव से घनिष्टतम रूप में सम्बन्धित रहते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि सौन्दर्य उनके लिए एक आधार-तत्व नहीं है और उसके अभाव में भी काव्य में उनका संयोजन किया जा सकता है, किन्तु इससे काव्य की अधिकांश चारुता नष्ट हो जायेगी। रूप-चित्रण काव्य में सौन्दर्य तथा गति का संचरण करता है और यही कारण है कि कवि-गण सदैव उसका आश्रय ग्रहण करते हैं। सौन्दर्य मूलतः दो प्रकार का होता है—पार्थिव तथा अपार्थिव। प्रथम के अन्तर्गत शारीरिक अथवा दैहिक रूप-श्री का अंकन किया जाता है तथा द्वितीय प्रकार के सौन्दर्य में मानसिक और आत्मिक रमणीयता का परिग्रहण किया जाता है। यद्यपि दैहिक सौन्दर्य का महत्व भी अपने में कम नहीं है तथापि तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षण करने पर मानसिक और आत्मिक शोभा का महत्व ही अपेक्षाकृत अधिक ठहरता है। इसका कारण यही है कि इन दोनों में सौन्दर्य के साहचर्य में सत्य और शिव का भी योग रहता है। यथार्थ तथा आदर्श, दोनों के समन्वय में विश्वास रखने के कारण 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' में उपर्युक्त तीनों प्रकार के सौन्दर्य-चित्रों का परिग्रहण किया गया है। उसके पात्रों का शारीरिक सौष्ठव जितना रम्य तथा नेत्ररंजक है, उतना अथवा उससे कहीं अधिक मनोरंजक उनका मानसिक तथा आत्मिक रूप है। वस्तुतः 'प्रसाद' जी ने शारीरिक शोभा के साथ-साथ मानसिक और आत्मिक रमणीयता के संरक्षण का पूर्ण ध्यान रखा है। यही कारण है कि 'कामायनी' के रूप-चित्र इतने मधुर तथा आकर्षक बन पड़े हैं कि भावक

की चेतना बरबस उन पर मुग्ध हो जाती है और वे रस की दृष्टि से घनीभूत होकर अध्येता के अन्तस् में पैठते चले जाते हैं।

'कामायनी' में रूप-चित्रण का परिग्रहण मूलतः दो रूपों में किया गया है। वस्तुतः पात्रों की प्रकृति को दृष्टिकोण में रखकर ही हम 'कामायनी' के सौन्दर्य-चित्रों का विभाजन कर रहे हैं अन्यथा इस तथ्य से हम पूर्ण रूप से सहमत हैं कि सौन्दर्य-तत्व अपने में एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। एक महाकाव्य होने के नाते 'कामायनी' में चेतन तथा अवचेतन, दोनों प्रकार के पात्रों का सन्निहन हुआ है। चेतन पात्रों से हमारा तात्पर्य प्राण-शक्ति से समन्वित पात्रों से है; जैसे मनु, श्रद्धा, इड़ा, मानव, श्रद्धा का पशु, किलात, आकुलि आदि। अवचेतन पात्रों में हिमालय, वृक्ष, शशि, नक्षत्र आदि प्राण-शून्य पदार्थों का परिगणन किया जाता है। 'कामायनी' में दोनों प्रकार के पात्रों की रूप-श्री को काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। एक ओर उसमें मानव के स्थूल तथा सूक्ष्म सौन्दर्य चित्रों की अवतारणा की गई है और दूसरी ओर प्रकृति के निसर्ग सौन्दर्य का कलात्मक अंकन किया गया है।

'कामायनी' के चेतन पात्रों में सर्वप्रथम हम श्रद्धा के रूप-चित्रण को लेंगे। श्रद्धा प्रस्तुत काव्य की नायिका के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। 'प्रसाद' जी ने उसकी दैहिक, मानसिक तथा आत्मिक रूप-छवि का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अंकन किया है। उसका शारीरिक सौन्दर्य अपने में अत्यधिक आकर्षक है। उसके अंग-प्रत्यंग का चित्रण कवि ने इतनी सुन्दर तथा सजीव शैली में किया है कि नेत्रों के समक्ष सहसा एक साकार चित्र उपस्थित हो जाता है और अध्येता की मनोचेतना एक विशिष्ट रस से आप्लावित हो जाती है। उसके शरीर के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन करते समय 'प्रसाद' जी ने उसे हृदय-तत्त्व से विशेष रूप से संयुक्त रखा है। यथा:—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त ।
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल,
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।।

इसमें कवि ने उपमा का आश्रय लेकर श्रद्धा की भौतिक सौन्दर्य-छवि के प्रत्यक्षीकरण का प्रयास किया है। वस्तुतः काव्य में सौन्दर्य का आह्वान करते समय कवि अपनी सहज प्रतिभा से उसे अनेक रूप प्रदान कर देता है। 'प्रसाद' जी ने भी अपने पात्रों की रूप-श्री को विभिन्न शैलियों में वर्णित किया है और प्रत्येक चित्र को हमारे समक्ष श्रेष्ठ रीति से प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त पंक्तियों में श्रद्धा के रूप का अत्यन्त निसर्ग चित्रण हुआ है। कवि ने अपनी ओर से उसकी सज्जा के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया। इतना होने पर भी यह रूप-चित्र अपने में पर्याप्त रम्य बन पड़ा है और इससे अध्येता की मनसा अवश्य ही प्रभावित होती है। जिन स्थलों पर 'प्रसाद' जी ने सप्रयास रम्य रूप-चित्रों की अवतारणा की है, वे स्थल अपने में अत्यन्त मनोरम तथा आकर्षक बन पड़े हैं। श्रद्धा की आंगिक छवि का अंकन करते समय कवि ने नैसर्गिक तत्त्वों का ही आश्रय नहीं लिया, अपितु कलागत तत्त्वों के आधार पर भी उसका संयोजन किया है। श्रद्धा के प्रत्येक अंग में एक अनुपम रूप-सौन्दर्य का समावेश है। उसकी भौतिक छवि अपने में एक ऐसी रम्य चारुता लिये हुए है कि मनु की चेतना बरबस उस ओर आकृष्ट हो जाती है। उसकी रमणीयता में परिव्याप्त अमिय इतना मधुर है कि मनु का अन्तस् उसका पान कर मुग्ध हो जाता है और उन्हें वह अनुपम सौन्दर्य एक मोहक तथा अभिराम इन्द्रजाल के सदृश प्रतीत होने लगता है। नीले वस्त्रों से परिवेष्टित उसका गौर वर्ण तथा कोमल शरीर अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रहा था:—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ- बन बीच गुलाबी रंग ।।

श्रद्धा की दैहिक सुषमा जितनी रम्य तथा आकर्षक है, उतना ही उसका मानसिक सौन्दर्य भी विकसित है । दया, माया, विश्वास, ममता, सेवा आदि समग्र उदात्त तत्त्व उसके मानस में समाविष्ट हैं । स्वार्थ, पक्षपात आदि की गर्हित भावनाओं का उसमें एकान्त अभाव है । उसके अन्तस् में स्नेह की एक अपूर्व धारा सदैव अविरल गति से प्रवहमान रहती है और सृष्टि के प्रत्येक तृषित कण को वह इसका पान कराती है । सर्वप्रथम वही मनु के व्यक्तित्व में से निराशा तथा चिन्ता के तत्वों का परिहार करती है और उसे अपने अन्तर का समस्त स्नेह प्रदान कर परितुष्ट करती है । भाव-प्रवण और संवेदनशील होने के कारण वह जड़ प्रकृति के प्रति भी सहज अनुराग-भावना का भी अनुभव करती है । हृदय के उच्च होने के साथ-साथ उसकी आत्मा भी अत्यन्त महान् है । स्वार्थ-भावना से युक्त होने के कारण मनु उसका परित्याग कर उसके प्रति घोर अपराध करते हैं, किन्तु श्रद्धा के मन में उसके प्रति तनिक भी विकार उत्पन्न नहीं होता । इतना होने पर भी वह मनु का कल्याण ही करती है । श्रद्धा की आत्मा सदैव क्षमाशील है और वह सृष्टि के किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखती । मनु की भाँति वह इड़ा को भी सच्चे हृदय से क्षमा कर देती है और उसके प्रति भी अपनी आन्तरिक स्नेह-लहरी का प्रसरण करती है ।

श्रद्धा की भाँति 'कामायनी' में इड़ा की रूप-श्री का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर रीति से किया गया है । उसकी दैहिक छवि श्रद्धा की अपेक्षा अधिक रम्य तथा प्रभावोत्पादक है । उसके प्रत्येक अंग में सौन्दर्यपरक तत्वों का पूर्ण समावेश हुआ है । उसकी दैहिक आभा इतनी रम्य तथा मनोरम है कि उसके कारण उसके व्यक्तित्व में एक महान् आकर्षण-शक्ति का

सन्निवेश हो गया है। यही कारण है कि मनु प्रथम दर्शन के अवसर पर ही उसकी ओर एक विशेष आकर्षण-भाव का अनुभव करने लगते हैं और श्रद्धा की पार्थिव तथा अपार्थिव सौन्दर्य-विभूति का विस्मरण कर उसके रूप-पाश में आबद्ध हो जाते हैं। यह इड़ा की आंगिक छवि का ही परिणाम था कि मनु चिरकाल तक उसके द्वारा शासित हो उसी की आज्ञा के अनुसार कार्य करते रहे। 'कामायनी' में इड़ा के रूप का अत्यन्त व्यापक रूप में चित्रण किया गया है। उसमें कल्पना तथा वास्तविकता, दोनों तत्त्वों का समावेश हुआ है और यही कारण है कि वह अपने में पर्याप्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। यथा:—

बिखरी अलकें, ज्यों तर्क जाल।
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम,
शशि-खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग,
देते अनुराग विराग ढाल॥
गुंजरित मधुप के मुकुल सदृश,
वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षःस्थल पर एकत्र धरे,
संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान॥

× × ×

त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी,
आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल!

यहाँ इड़ा के प्रायः प्रत्येक अंग के सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक उल्लेख किया गया है। 'प्रसाद' जी ने इसमें सहज तत्वों का आश्रय न लेकर अलंकारिक शैली का परिग्रहण किया है। इड़ा के वास्तविक रूप को अध्येता की कल्पना में प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने जिन उपमानों का आश्रय

ग्रहण किया है वे मानव के हृदय-तत्व से संयुक्त न होकर उसके बौद्धिक सूत्रों से सम्बन्धित हैं। इससे कवि का प्रत्यक्षीकरण का लक्ष्य तो पूर्ण हो जाता है, किन्तु रस के उद्रेक में गत्यवरोध आ जाता है। रस काव्य-गत सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व है। अतः उसके अभाव में सौन्दर्य-चित्र इतना उत्कृष्ट नहीं बन सकता। यही कारण है कि 'कामायनी' में किया गया इड़ा का रूप-चित्रण पर्याप्त प्रभावोत्पादक होते हुए भी रस की दृष्टि से विशेष आकर्षक नहीं है। वस्तुतः एक रूपक होने के कारण 'कामायनी' के पात्र दोहरे व्यक्तित्व से संयुक्त हैं और 'प्रसाद' जी ने उनका रूप-चित्रण उसी दृष्टिकोण से किया है। बुद्धि की प्रतीक होने के कारण इड़ा के पार्थिव रूप में उसके सूक्ष्म रूप का भी अंकन हुआ है। इसी कारण 'प्रसाद' जी को उसके लिए इस प्रकार के बुद्धिगत उपमानों की आयोजना करनी पड़ी है। रूपक की दृष्टि से उनका यह सौन्दर्य-चित्र अपने में अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ा है, किन्तु रूप-चित्रण की दृष्टि से उसमें रस-तत्व का प्रायः अभाव है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि नायिका की भाँति काव्य काव्य में नायक की सौन्दर्य-श्री का भी यथावत् अंकन किया जाये। 'प्रसाद' जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वह कवि होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे और मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भी उनकी पूर्ण गति थी। यही कारण है कि उन्होंने उपर्युक्त तथ्य का पूर्ण ध्यान रखा है और 'कामायनी' में श्रद्धा तथा इड़ा के अतिरिक्त मनु के रूप का भी अंकन किया है। शारीरिक सौन्दर्य के क्षेत्र में स्वास्थ्य के तत्त्व का विशेष महत्व है। उससे शरीर की आंगिक छवि में एक विशेष गठन तथा ओज का आगमन होता है। सौन्दर्य के अन्य तत्वों के वर्तमान रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति के शरीर में स्वास्थ्य के तत्व का एकान्त अभाव हो तो वह कदापि आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। वैसे तो नर तथा नारी, दोनों की दृष्टि से स्वास्थ्य एक आवश्यक तत्व है, तथापि नर के लिए

उसका महत्व अपेक्षाकृत और भी अधिक है। यही कारण है कि 'प्रसाद' जी ने मनु की शारीरिक शोभा का वर्णन करते समय उनके उत्तम स्वास्थ्य का विशेष रूप से उल्लेख किया है। यथा:—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार।
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार ॥

मनु सर्वप्रथम हमारे समक्ष एक युवक तपस्वी के रूप में अवतीर्ण होते हैं। उस समय उनका सौन्दर्य अपने में आकर्षक होता हुआ भी पूर्ण विकसित अवस्था में नहीं था। देवताओं की सृष्टि के विनष्ट हो जाने के कारण उनके मन में अनेक चिन्ताओं का प्रादुर्भाव होता है और उसका प्रभाव उनके पार्थिव सौन्दर्य पर भी पड़ता है। इतना होने पर भी 'कामायनी' में किये गये उनके रूप-चित्रण का अध्ययन करने पर हमें उनके वास्तविक सौन्दर्य का पर्याप्त अनुमान प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः उनकी शारीरिक शोभा अत्यन्त मनोरम तथा रम्य है और उसमें व्यापक प्रभाव का सन्निवेश हुआ है। यही कारण है कि श्रद्धा प्रथम दर्शन में ही उन पर मुग्ध हो जाती है और अपने आपको उनके चरणों में समर्पित कर देती है। 'श्रद्धा' सर्ग में उनके सौन्दर्य के प्रभाव को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करती हुई वह मनु से प्रश्न करती है:—

कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर,
तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रान्त और एकान्त—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य।

एक करुणामय सुन्दर मौन,
और चंचल मन का आलस्य ॥

इस प्रकार हमने देखा कि 'कामायनी' में मनु, इड़ा, श्रद्धा आदि सभी प्रमुख पात्रों की रूप-छवि का चित्रण किया गया है, इनके अतिरिक्त मानव, श्रद्धा का पशु, किलात, आकुलि आदि कतिपय गौण पात्र भी हैं, किन्तु रूप-चित्रण की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। एक दार्शनिक कवि होने के नाते 'प्रसाद' जी बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य के अंकन में विशेष आस्था रखते थे। यही कारण है कि 'कामायनी' में उन्होंने मानव के अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखने वाली सूक्ष्म वृत्तियों का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है। अन्तस् की प्रत्येक भाव-लहरी उनके समक्ष एक साकार रूप लेकर उद्भूत होती है और वह अपनी सजीव शैली के द्वारा उसे और भी मनोरम रूप प्रदान कर देते हैं। आशा, वासना लज्जा आदि अमूर्त भावनायें 'कामायनी' में आकर मूर्त हो गई हैं और उनके सौन्दर्य-चित्र अपने में इतने मनोरम बन पड़े हैं कि अध्येता की मनोचेतना हठात् मुग्ध हो जाती है और उनके अन्तर में मधुर रस का एक अपूर्व स्रोत प्रवहमान हो उठता है। उदाहरणार्थ आशा-रूपी रमणी का निम्नांकित चित्र देखिए:—

यह कितनी स्पृहणीय बन गई,
मधुर जागरण-सी छविमान।
स्मिति की लहरों-सी उठती है,
नाच रही ज्यों मधुमय तान ॥

यहाँ 'प्रसाद' जी ने आशा को एक पृथक् सत्ता रखने वाली नारी का रूप प्रदान किया है और उसके मूक अस्तित्व में एक मुखर चेतना का संचरण किया है। इससे न केवल उसके स्वरूप का ही बोध हो जाता है, अपितु उससे सम्बन्धित प्रत्येक परिस्थिति का एक प्रत्यक्ष चित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित

हो जाता है। इसी प्रकार लज्जा, वासना आदि अन्य भावनाओं को भी 'प्रसाद' जी ने चेतन गति प्रदान की है।

'कामायनी' में व्यक्तिगत रूप-चित्रों के अतिरिक्त प्रकृतिगत सौन्दर्य-चित्रों का भी प्रभूत मात्रा में अंकन हुआ है। काव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य का परिग्रहण प्रायः दो रूपों में किया जाता है। एक तो कवि प्राकृतिक उपादानों का जिस रूप में अवलोकन करता है, उसी रूप में उनका वर्णन कर देता है और अपनी कल्पना का कोई विशेष प्रयोग नहीं करता। इस प्रकार के चित्रों को हम प्रकृति की निसर्ग अभिव्यक्ति कह सकते हैं। यह अभिव्यक्ति सर्वथा निर्व्याज होती है और इसमें किसी भी प्रकार के प्रयास का आयोजन नहीं किया जाता। इसमें प्रकृति की नैसर्गिक रमणीयता अत्यन्त सहज रूप में अवतीर्ण होती है। 'कामायनी' में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के सहज प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रों की उद्‌भावना की गई है। यथा:—

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं,
दूर-दूर तक फैल रहीं।
शरद् इन्दिरा के मन्दिर की,
मानो कोई गैल रही ॥

दूसरे प्रकार के प्राकृतिक चित्र मानवीय हृदय की सौन्दर्य-सत्ता से घनिष्टतम रूप में सम्बन्धित रहते हैं। अनेक बार कवि किसी प्राकृतिक उपादान तथा दृश्य के प्रति एक विशेष आकर्षण-भाव का अनुभव करता है। उसका अंकन करते समय उसके मन में प्रायः यही भावना वर्तमान रहती है कि विवक्षित दृश्य का इस रूप में चित्रण किया जाये कि अध्येता भी उसके अध्ययन से ठीक वही प्रभाव ग्रहण कर सके। इस भावना से प्रेरित होकर वह उस दृश्य को सहज रूप में अंकित न कर विभिन्न प्रणालियों से उसका उद्‌भावन करता है। इस प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण को हम प्रकृति का भावाक्षिप्त अथवा सचेष्ट रूप-चित्रण कह सकते हैं।

'प्रसाद' जी इसी प्रकार के सौन्दर्य-चित्रों में विश्वास रखते थे। यही कारण है कि 'कामायनी' में प्रकृति के निसर्ग चित्र अत्यन्त अल्प हैं तथा उसके सज्जीभूत चित्रण प्रायः समस्त स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं। इस प्रकार के वर्णन अध्येता को प्रभावित करते हुए उसकी सौन्दर्य-वृत्ति को पूर्णतया परितुष्ट कर देते हैं। उदाहरणार्थ 'काम' सर्ग से उद्धृत अधोलिखित छन्द देखिए:—

> लतिका घूंघट से चितवन की,
> वह कुसुम दुग्ध-सी मधु धारा।
> प्लावित करती मन अजिर रही,
> था तुच्छ विश्व वैभव सारा॥

इस प्रकार 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी की सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा निर्भ्रान्त तथा स्वस्थ धरातल पर अवस्थित रही है। यद्यपि रूप-चित्रों का उद्भावन करते समय उन्होंने सौन्दर्य-तत्व को शीर्ष स्थान प्रदान किया है, तथापि सत्य तथा शिव नामक तत्त्वों का वह एक पल के लिए भी विस्मरण नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि 'कामायनी' के सौन्दर्य-चित्र इतने प्रभावोत्पादक बन सके हैं। उनका महत्व अपने में सदैव अप्र-तिम तथा अक्षुण्ण है। वस्तुतः 'कामायनी' में प्रस्तुत किये गये प्रायः सभी रूप-चित्र अत्यन्त व्यापक स्तर पर स्थित हैं। 'प्रसाद' जी ने अपनी अनुपम सूक्ष्म दृष्टि, व्यापक कल्पना और चिन्तनमय अनुभूति के द्वारा उन्हें अत्यन्त रम्य रूप प्रदान किया है।

२७. 'परिमल' का भाव-पक्ष

हिन्दी-साहित्य में स्वच्छन्द तथा सजीव काव्य-धारा का स्रोत प्रवाहित करने के कारण कविवर 'निराला' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका काव्य उनके मौलिक तथा असाधारण व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। एक प्राणचेता कवि होने के नाते उन्होंने अपने काव्य के लिए सर्वथा नूतन उपादानों का संकलन किया है और उसे एक नितान्त मौलिक दिशा प्रदान की है। उनके द्वारा खड़ी बोली की काव्य-धारा निश्चय ही पर्याप्त मात्रा में समृद्धि की ओर उन्मुख हुई है। उनके समग्र काव्य-ग्रन्थों में प्रस्तुत काव्य-कृति 'परिमल' का अपना पृथक् महत्व है। इसके अन्तर्गत उन्होंने भाव तथा कला, दोनों के क्षेत्रों में नूतन प्रयोग किये हैं। वैसे तो ये दोनों ही पक्ष कविता के लिए अनिवार्य हैं और इनमें से किसी एक के अभाव में भी उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, तथापि काव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित होने के कारण भाव-पक्ष का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है और उसकी अभिव्यक्ति में सहायक होने के कारण कला-पक्ष का स्थान किसी सीमा तक गौण है। कला-तत्त्व सदैव भाव-सापेक्ष रहता है और उससे शून्य हो जाने पर उसका स्वयं का अस्तित्व भी स्थिर नहीं रह पाता। वस्तुतः भाव-पक्ष को साहित्य का प्राण-तत्व कहना उचित होगा, क्योंकि उससे पृथक् हो जाने पर साहित्य का अस्तित्व सर्वथा विलुप्त हो जाता है। किसी भी काव्य-ग्रन्थ की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि उसके भाव-पक्ष का निर्माण उत्कृष्ट उपादानों की आधार-शिला पर किया जाये। इस दृष्टि से 'निराला' जी का 'परिमल' निश्चय ही एक सफल काव्य है। इसकी भाव-धारा अत्यन्त समृद्ध तथा मौलिक तत्त्वों से युक्त है और उसमें

'निराला' जी की काव्य-सम्बन्धी विभिन्न विशेषताओं का सुन्दर सन्निहन हुआ है।

भाव-पक्ष की दृष्टि से 'परिमल' की समीक्षा करते समय हमें उसके अन्तर्गत कवि की विचार-धारा के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं। महान् कलाकार सदैव परिस्थिति-विशेष में निवास करते हुए भी अपने प्रसरणशील अन्तर्जगत में गत-आगत तथ्यों तथा सम्भावनाओं को समाहित किये रखते हैं। अतः उनकी कला-कृतियों का मूल्यांकन करते समय यदि हम केवल वर्तमान-जन्य परिस्थितियों तथा विचार-सरिणियों को ही दृष्टिपथ में रखें और उन्ही की आधार-शिला पर उनकी समीक्षा करें तो यह उनके प्रति एक गुरु अन्याय होगा। इस प्रकार के श्रेष्ठ कलाकारों की न्यायोचित समीक्षा तभी सम्भव हो सकती है जब आलोचक में धैर्य तथा सहानुभूति के गुणों का विशेष रूप से सन्निहन हो और उसके मस्तिष्क में कलाकार की चेतना के समुचित मूल्यांकन के लिए यथेष्ट प्रतिभा वर्तमान हो। श्री सूर्यकान्त 'निराला' निश्चय ही इस प्रकार की मौलिक प्रतिभा से युक्त कवि हैं। उन्होंने अपने युग तक की समस्त गत राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतनाओं को अपने में संजोकर आगत के विकास के लिए साहित्यिक बीज का रोपण किया है।

'परिमल' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा प्रणीत एक सुन्दर आकलन-ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत कवि की २६० कवितायें संगृहीत हैं जो विचारों की दृष्टि से एकरूप न होकर विभिन्न भाव-सरणियों की ओर संकेत करती हैं। काव्य के कला-पक्ष को दृष्टि में रखते हुए 'निराला' जी ने इन कविताओं को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड में संगृहीत कवितायें लक्षण-ग्रन्थों की आधार-शिला पर प्रणीत की गई हैं; द्वितीय खण्ड में पन्त जी के ढंगकी विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास कवितायें हैं तथा तृतीय खण्ड में स्वच्छन्द छन्दों से युक्त कविताओं का संग्रहण हुआ है। इस प्रकार यह विभाजन छन्दों की दृष्टि से किया गया है। यदि भावों की

दृष्टि से हम इन कविताओं का विश्लेषण करें तो ये अनेक भागों में विभक्त की जा सकती हैं। जैसे—अध्यात्मिक, उद्बोधनात्मक, शृंगारिक, प्राकृतिक आधार को लेकर लिखी गई कवितायें, समाज-दर्शन पर आधृत कवितायें, आत्म-दर्शन से संयुक्त चिन्तनपरक कवितायें, काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी कवितायें, ऐतिहासिक-राष्ट्रीय कवितायें, छायावादी कवितायें, प्रगतिवादी कवितायें, रहस्यवादी कवितायें आदि। आगे हम इन सभी विभागों का विस्तृत वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम हम 'परिमल' की आध्यात्मिक कविताओं की समीक्षा करते हैं। 'निराला' जी की आध्यात्मिक विचार-धारा में अनुभूति तथा चिन्तन के तत्वों को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त हुआ है। 'परिमल' में इस प्रकार की अनेक कवितायें उपलब्ध होती हैं जिनके अध्ययन से हमें कवि के आध्यात्मिक विचारों का स्पष्ट परिचय उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ 'खेवा' शीर्षक कविता में कवि ने भव-पारावार से अपनी जीवन-नौका के रक्षार्थ इष्टदेव का आह्वान किया है। विश्व-सागर के प्रबल तरंगाघातों ने जीवन-रूपी नौका को सर्वथा अस्थिर कर दिया है और अब उसके अस्तित्व की रक्षा केवल तभी सम्भव हो सकती है जब स्वयं नाविक अर्थात् परमात्मा आकर अपना सहयोग प्रदान करें। यहाँ कवि ने अत्यन्त दीनता-पूर्वक इष्टदेव के प्रति अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। 'पारस' नामक कविता में कवि ने ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमानता का उन्मुक्त स्तव-गान किया है। अपने हृदय को इष्टदेव के चरणों में अर्पित करता हुआ कवि कहता है:—

जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर-अतीत आशा, सुख सब भय,
सब में तुम, तुम में सब तन्मय।

कर स्पर्श रहित और क्या है ? अपलक, असार !
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन—वन के बहार !

'माया' शीर्षक प्रगीत के अन्तर्गत कवि ने माया के प्रति अपनी विचार-धारा की अभिव्यक्ति की है। कवि अभी माया के विषय में एक निश्चित मत का निर्धारण नहीं कर पाया है। अतः उसके विषय में 'निराला' जी के विचार 'परिमल' में प्रश्नवाचक चिन्ह से संयुक्त रहे हैं। 'माया' एक गर्हित तथा त्याज्य वस्तु है अथवा वह एक मनोरम तथा स्पृहणीय तत्त्व है—इस विषय में कवि अभी कोई निर्णय नहीं कर पाया है। 'भर देते हो' शीर्षक कविता में 'निराला' जी ने ईश्वर के गुणों का विशेष रूप से गान किया है। जब ईश्वर किसी व्यक्ति की ओर करुणा की दृष्टि से देखते हैं तो उसके हृदय की समस्त क्लान्ति तथा खिन्नता निराकृत हो जाती है। अपनी इसी भावना को कवि ने प्रस्तुत कविता में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

'परिमल' की 'तुम और मैं' कविता में 'निराला' जी की रहस्योन्मुख आध्यात्मिक विचार-धारा का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। इसके अन्तर्गत उन्होंने आत्मा तथा परमात्मा के मध्य एक घनिष्टतम सम्बन्ध को प्रस्थापित किया है। जिस प्रकार हिमालय तथा सुरसरि में, उच्छ्वास और कविता में, प्रेम और शान्ति में और भाव तथा भाषा में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार परमात्मा तथा आत्मा के मध्य भी कारण-कार्य भाव की स्थिति है— परमात्मा कारण-स्वरूप है और आत्मा उससे उद्भूत होने वाला कार्य। जिस प्रकार नभ में व्याप्त रहने वाली नीलिमा उससे पृथक् नहीं की जा सकती, पथ में विकीर्ण रजकण अनिवार्य रूप से उससे सम्बद्ध रहते हैं, उसी प्रकार परमात्म-तत्त्व के अभाव में आत्मा की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अपनी इसी भावना को कवि ने इस प्रकार अभिव्यंजित किया है:—

> तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
> तुम हो राधा के मनमोहन,
> मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त,
और मैं बाट जोहती आशा।

तुम भव सागर दुस्तर,
पार जाने की मैं अभिलाषा ।।

'परिमल' की उद्‌बोधनात्मक कविताओं में कविवर 'निराला' की प्रखर तथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति का चरम रूप दृष्टिगत होता है। मौलिकता और स्वच्छन्दता उनके व्यक्तित्व के युगल पार्श्व हैं और उनकी कविता में भी हमें उनकी इन विशेषताओं के स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। आत्म-चेतना, शौर्य तथा साहस की वृत्तियाँ उनके अणु-अणु में परिव्याप्त हैं। वीर अर्जुन, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह आदि का स्मरण कर वह क्रान्ति का आह्वान करते हैं। और असि उठाने का सन्देश देकर भारतवासियों को उद्‌बुद्ध करते हुए कहते हैं:—

जागो फिर एक बार !
समर में अमर कर प्राण
गान गाए महासिन्धु-से
सिन्धु-नद-तीर वासी !
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमूसंग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,

फाग का खेला रण
बारहों महीनों में ?
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार ॥

उद्बोधनात्मक कविताओं में 'परिमल' की 'आवाहन' कविता का विशेष महत्व है। इसमें कवि की क्रान्तिकारी विचारधारा का सर्वाधिक उग्र रूप में सन्निहन हुआ है। इसमें कवि ने रणचण्डी का अत्यधिक आग्रह-पूर्वक आवाहन किया है और उससे अपना ताण्डव नृत्य करने की प्रार्थना की है। उन्हें विश्व में व्याप्त रहने वाली अतिशय कोमल वृत्तियाँ सर्वथा असह्य प्रतीत होती हैं और इसी कारण वह श्यामा के ताण्डव नृत्य द्वारा उन्हें विनष्ट कर उनके स्थान पर दृढ़ तथा कठोर सूत्रों के प्रस्थापन की कामना करते हैं। प्रस्तुत कविता में कवि ने उस दृश्य का जो चित्र अंकित किया है वह अपने में अत्यन्त सजीव तथा प्रभावोत्पादक है।

तृतीय कोटि में 'परिमल' की शृंगारपरक कवितायें आती हैं। इनमें कवि ने प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से शृंगार के अत्यन्त स्वस्थ चित्र अंकित किये हैं और सौन्दर्य के तत्व का उनमें विशेष रूप से सन्निहन किया है। 'प्रिया के प्रति' तथा 'भ्रमर गीत' शीर्षक कविताओं में उन्होंने अपनी प्रियतमा के प्रति अपने अन्तस् की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। जब कवि की कल्पना में उनकी प्रेयसी का चित्र अंकित होता है तब वह सब कुछ विस्मरण कर केवल उसकी ओर अपलक दृष्टि से निहारते हैं। उस समय उनके समस्त दुःख विलुप्त हो जाते हैं और अन्तस् में नैर्मल्य की भावना का संचरण होने लगता है। कवि के प्राण अपनी प्रेयसी के प्रेम में लीन हो जाते हैं और वह उसकी निर्मल छवि पर विमुग्ध हो उठता है। उनका विश्वास है कि उन्हें कविता की प्रेरणा सर्व प्रथम अपनी प्रियतमा की विमल-रूप-श्री से ही प्राप्त हुई है। इसी कारण 'भ्रमर-गीत' शीर्षक कविता में वह कहते हैं:—

खिली थीं जब तुम, प्रथम प्रकाश,
पवन-कम्पित नव-यौवन हास,
वृन्त पर टलमल उज्ज्वल प्राण,
नवल-यौवन-कोमल नव-ज्ञान
सुरभि से मिला आशु आह्वान,
प्रथम फूटा प्रिय मेरा गान ।

'परिमल' की 'बहू' शीर्षक कविता शृंगार रस की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ी है। इसके अन्तर्गत कवि ने लतिका के माध्यम से गृह-वधू का एक सजीव तथा प्रभावोत्पादक चित्र अंकित किया है। वह अपार सौन्दर्य- राशि से सम्पन्न है। उसके अन्तस् में प्रेमिल भावनाओं का समावेश है, किन्तु वासना-जन्य कलुषता से वह सर्वथा शून्य है। उसके सुन्दर नेत्र सदैव लज्जा से अवनत रहते हैं और वह संकोच से सिमटी रहती है। अपने पति के चरणों में वह निष्काम भाव से आस्था रखती है और उन्हें ही अपना सर्वस्व समझती है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'निराला' जी ने अपने 'परिमल' में अनेक शृंगार-चित्र प्रस्तुत किये हैं। तत्सम्बन्धी विभिन्न गीतों में उन्होंने विभिन्न आल-म्बनों का परिग्रहण किया है। कतिपय स्थलों पर उन्होंने अपनी प्रेयसी को आलम्बन-रूप में परिगृहीत किया है, किन्तु अधिकांश कविताओं में उन्होंने प्राकृतिक उपादानों को ही आधार रूप में ग्रहण किया है। कलिका, वसन्त, समीर आदि के माध्यम से कवि ने जिस शृंगारिक भाव-धारा की अभिव्यंजना की है वह अपने में नितान्त स्वस्थ तथा सजीव है। उसकी सहज रमणीयता तथा सज्जा का कौशल इतना नूतन तथा मौलिक है कि अध्येता की चेतना बरबस उस ओर आकृष्ट हो जाती है और उसका अन्तस् अपार रस-सागर में निमग्न हो जाता है। शृंगार-चित्रों की अवतारणा करते समय 'निराला' जी ने प्रकृति को आलम्बन तथा उद्दीपन, दोनों रूपों में

ग्रहण किया है। अधोलिखित पंक्तियों में वसन्त ऋतु के उद्दीपक रूप का सुन्दर वर्णन किया गया है:—

दूत अलि, ऋतुपति के आए !
फूट हरित पत्रों के उर से,
स्वर-सप्तक छाए।
काँप उठी विटपी, यौवन के
प्रथम कम्प मिस, मन्द पवन से
सहसा निकल लाज-चितवन के
भाव-सुमन छाए।

शृंगार रस को पूर्णता प्रदान करने के लिए 'निराला' जी ने उसके संयोग तथा विप्रलम्भ, दोनों पक्षों का परिग्रहण किया है। 'परिमल' में हमें दोनों प्रकार के चित्र उपलब्ध होते हैं। शृंगार का वास्तविक स्वरूप वस्तुतः विरह में ही स्पष्ट होता है, क्योंकि उस समय अन्तस् में वासनात्मक वृत्तियों का सर्वथा अभाव होता है और केवल शुद्ध प्रेमिल भावनायें ही वहाँ वर्तमान रहती हैं। 'परिमल' में संयोग-चित्रों की अपेक्षा वियोग-चित्र अत्यन्त अल्प हैं, किन्तु उनमें विप्रलम्भ-जन्य भावनाओं का पूर्ण समावेश हुआ है। इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है :—

अलि, घिर आये घन पावस के,
छोड़ गए गृह जब से प्रियतम,
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बस के—
अलि, घिर आए घन पावस के।

प्राकृतिक उपकरणों को आलम्बन के रूप में परिगृहीत कर 'निराला' जी ने अनेक रूप-मधुर चित्रों की अवतारणा की है। एक छायावादी कवि होने के नाते उन्होंने प्रकृति को जड़ न मानकर उसमें प्राणों के स्पन्दन का

अनुभव किया है और उसी रूप में उसे अपने काव्य में वर्णित किया है। प्राकृतिक उपकरणों में रूप, गुण, और चेतना की प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्होंने उनका मानवीकरण कर दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में सन्ध्या को एक सुन्दर रमणी के रूप में चित्रित किया गया है :—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।

तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु गम्भीर,—नहीं है, उनमें हास-विलास।

इसी प्रकार कविवर 'निराला' ने कली, शरत्पूर्णिमा, जूही की कली, शेफालिका आदि जड़ तत्वों को प्राण-चेतना से संयुक्त किया है और उन पर मानव की वेष-भूषा, रूप, रंग, आकार, क्रिया-कलाप आदि समग्र वस्तुओं का सुन्दर रीति से आरोपण किया है। यही कारण है कि वे कविताएँ अपने में पर्याप्त सहृदय-संवेद्य बन सकी हैं। इस दृष्टि से 'परिमल' में संगृहीत 'जूही की कली' शीर्षक कविता अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें कवि ने जूही की कली को एक नायिका के रूप में चित्रित किया है। वास्तव में 'परिमल' में हमें प्रकृति-सम्बन्धी दो प्रकार की कवितायें उपलब्ध होती हैं—स्वाभाविक तथा सम्बोधनात्मक। प्रथम प्रकार की कविताओं में कवि ने अत्यन्त सहज रूप से प्रकृति में मानव-भावनाओं का आरोप किया है तथा इसी दृष्टि से उसका अंकन किया है। सम्बोधनात्मक कविताओं में कवि ने प्राकृतिक उपकरणों को सम्बोधित कर अपनी भावधारा की अभिव्यंजना की है। प्राकृतिक उपकरणों को लेकर अंग्रेजी में अनेक सम्बोधनात्मक कवितायें लिखी गई हैं, किन्तु हिन्दी-साहित्य में इस सौन्दर्य के दर्शन प्रथम बार केवल 'निराला' जी के काव्य में ही होते हैं। 'परिमल'

की 'यमुना के प्रति' कविता में कवि ने कालिन्दी को सम्बोधित किया है और उससे अनेक प्रश्न किये हैं। 'तरंगों के प्रति' शीर्षक कविता में वह उर्मियों से उनके कार्य-कलाप के विषय में अनेक प्रश्न करते हैं :—

किस अनन्त का नीला-अंचल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार।
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार॥

इसी प्रकार 'प्रपात' के प्रति', 'जल्द के प्रति', 'वसन्त-समीर', 'बादल-राग' आदि अनेक सम्बोधनात्मक कवितायें हमें 'परिमल' में उपलब्ध होती हैं। इनमें 'बादल-राग' शीर्षक कविता का अपना पृथक् महत्व है। बादल 'निराला' जी की प्रकृति तथा उनके साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। उसको उन्होंने 'निर्बन्ध', 'स्वच्छन्द', 'उद्दाम', 'विप्लव के प्लावन' आदि अनेक विशेषणों से अभिहित किया है। जलधर अपने सिन्धु-रूपी निवास-स्थल का परित्याग कर सेवा-कार्य के लिए विश्व में विचरण करते हैं, अतः कवि उनका उन्मुक्त कण्ठ से स्तव-गान करता है। मेघों में परिव्याप्त कालिमा ऐसी प्रतीत होती है मानो वे वारिद के कुंचित केश हों। कवि उनका अवलोकन कर मुग्ध हो उठता है। वह उनसे निवेदन करता है कि वे अपनी सरस धारा विश्व में प्रवाहित करें और उसमें कवि भी बह जाए एवं मेघों के 'गर्जन भैरव संसार' का अवलोकन कर सके।

'निराला' जी की प्रतिभा केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है, अपितु उसमें व्यावहारिक तत्वों का भी उचित समावेश हुआ है। यही कारण है कि उनका दार्शनिक चिन्तन जहाँ अध्यात्म, प्रकृति आदि सूक्ष्म वस्तुओं का स्पर्श करता है वहाँ समाज को भी पर्याप्त प्रकाश प्रदान करता है। 'परिमल' की अनेक कवितायें सामाजिक सूत्रों पर आधृत हैं। छायावादी कवि होते हुए भी 'निराला' जी प्रगतिवादी हैं और यही कारण है कि उन्होंने समाज की दीन अवस्था के अत्यन्त करुण चित्र अंकित किये हैं। समाज-

दर्शन पर आधृत उनकी कवितायें सामान्यतः दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं---एक तो वे जिनमें उन्होंने समाज के पथ-प्रदर्शनार्थ नीति-परक वाक्यों का प्रणयन किया है और दूसरी प्रकार की कवितायें वे हैं जिनमें कवि ने समाज के पीड़ित अंगों को लेकर करुण चित्रों की अवतारणा की है। नीतिपरक कविता का एक उदाहरण देखिए:---

मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गए !
चिन्ताएँ, बाधाएँ
आती ही हैं, आएँ
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लाएँ;
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गये
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गए !

सामाजिक तत्त्वों से संयुक्त द्वितीय प्रकार की कविताओं में 'परिमल' की 'विधवा' तथा 'भिक्षुक' शीर्षक कवितायें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें कवि ने क्रमशः विधवा तथा भिक्षुक की दयनीय परिस्थितियों का सजीव चित्र अंकित किया है। भारतीय समाज में विधवा का जीवन एक अभिशाप के रूप में परिगृहीत किया जाता है। पति से सदा के लिए वियुक्त हो जाने के कारण पहले ही उसका अन्तर विक्षुब्ध होता है, इतने पर भी उसे समाज के व्यंग्य तथा उपहास-वचनों को सहन करना पड़ता है। अपने अन्तर की अपार वेदना उसे वहीं हृदय में ही समाहित करनी पड़ती है, विश्व के समक्ष खुलकर वह उसे अभिव्यक्त भी नहीं कर सकती। उसकी पीड़ा अश्रु-धारा के रूप में निर्गत होने को आतुर हो उठती है, किन्तु उस अभागिनी को रुदन करने का भी अधिकार नहीं है, क्योंकि इस अभिशप्त ध्वनि से तो समाज के मांगलिक कार्यों में विघ्न पड़ने की सम्भावना है।

'निराला' जी का संवेदनशील हृदय उसकी वेदना का अनुभव कर चीत्कार कर उठता है और उनकी भावना काव्य के रूप में मुखर होकर कह उठती है :—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।

'भिक्षुक' शीर्षक कविता अपने में और भी अधिक करुण तथा हृदय-स्पर्शी है । इसके अन्तर्गत भिक्षुक की शोचनीय अवस्था का अत्यन्त मार्मिक रूप में दिग्दर्शन हुआ है । चिरकाल से क्षुधा-पीड़ित होने के कारण भिक्षुक का उदर तथा पीठ मिलकर एकाकार हो गये हैं । अपनी क्षुधा-वन्हि के प्रशमन के लिए कुछ अन्न प्राप्त करने की आकांक्षा से वह अपने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को आगे बढ़ाता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति उसके निवेदन को नहीं सुनता और इस प्रकार अन्त में उसे निराशा का ही आश्रय लेना पड़ता है । 'निराला' जी ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा चेतन प्रतिभा के बल पर भिक्षुक का अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा वास्तविक चित्र अंकित किया है । यही कारण है कि उनकी यह कविता अध्येता की मनोचेतना का तुरन्त ही स्पर्श करती है ।

महाकवि 'निराला' अन्तर की सहज प्रेरणा से उद्भावित भावों को लेकर ही काव्य-प्रणयन की ओर प्रवृत्त होते हैं । यही कारण है कि उनका काव्य किसी भी प्रकार के कृत्रिम उपकरणों से सर्वथा शून्य है और उसमें सहज गतियुक्त तत्वों का पूर्ण सन्निहन हुआ है । उनके व्यक्तित्व में कवित्व-शक्ति के अतिरिक्त दार्शनिक विशेषताओं का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश हुआ है । उन्होंने अपने चतुर्दिक् वातावरण का पूर्णतः निर्भ्रान्त रूप में पर्यवेक्षण और अनुशीलन किया है और बाह्य सृष्टि से अपनी

भावनाओं का परिग्रहण करते समय उन्हें चिन्तन के तत्व से विशेषतः ग्रथित किया है। इस दृष्टि से उनके साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उनकी अधिकांश कवितायें उनके व्यक्तित्व से अनुवेष्टित रही हैं, तथापि उनकी कतिपय कवितायें ऐसी भी हैं, जिनमें कवि ने विशेष रूप से अपने व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति की है। उदाहरणार्थ 'परिमल' में ऐसी अनेक कवितायें उपलब्ध होती हैं जो अथ से इति तक पूर्णरूपेण कवि के आत्मदर्शन पर आधृत रही हैं। इन कविताओं में उन्होंने अपनी भाव-धारा तथा विचार-पद्धति को बिना किस अन्य माध्यम की सहायता के अध्येता के समक्ष प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन;
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन;
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

'निराला' जी केवल एक कवि तथा दार्शनिक ही नहीं हैं, अपितु एक आचार्य के गुण भी उनके व्यक्तित्व में पर्याप्त-मात्रा में वर्तमान हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने काव्य-प्रणयन के लिए अपेक्षित सामान्य आदर्शों की अत्यन्त सफलतापूर्वक चर्चा की है। उदाहरणार्थ 'परिमल' की 'कविता' शीर्षक कविता में उन्होंने कविता के स्वरूप का विश्लेषण किया है और इस विषय में अपना स्पष्ट निर्णय अध्येता के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस विषय में कवि का दृष्टिकोण अपने में सर्वथा निभ्रान्त रहा है। उनके मतानुसार कविता में अथ से इति तक रस-तत्त्व का सन्निहन होना अनिवार्य

है अन्यथा उसमें वांछित प्रभावोत्पादकता कदापि नहीं आ सकती। जिस प्रकार मनुष्य-जीवन में स्वाधीनता का अत्यधिक महत्व है उसी प्रकार 'निराला' जी कविता को छन्दों के बन्धन से मुक्त करने का प्रबल शब्दों में समर्थन करते हैं। वह उसकी इस स्वतन्त्र चेतना में भविष्य के कल्याण के दर्शन करते हैं और यही कारण है कि उन्होंने भाषा, भाव और छन्द, तीनों क्षेत्रों में बन्धन का विरोध किया है। 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने मुक्त छन्दों के प्रयोग पर विशेष बल दिया है और मुक्त छन्द के वैषम्य में एकरूपता की उद्भावना करने का सफल प्रयास किया है। वह कविता की अन्तरात्मा में एक गतियुक्त प्रवाह का दर्शन करने के आकांक्षी हैं। कवि तथा कविता के मध्य उन्होंने एक अनिवार्य सम्बन्ध-सूत्र का उद्भावन किया है और अपनी इस भावना को 'परिमल' में सुन्दर रीति से अभिव्यंजित किया है। इसी प्रकार 'कवि' शीर्षक कविता में उन्होंने कवि के कठिन कर्म पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

> और कोई, कवि, तुम, एक, तुम्हीं,
> बार बार, झेलते सहस्रों वार
> निर्मम संसार के,
> दूसरों के अथ ही लेते दान,
> महा प्राण ! जीर्णों में देते हो
> जीवन ही जीवन जोड़,
> मोड़ निज सुख से मुख।

कवि श्री 'निराला' की अन्तर्चेतना अपने राष्ट्र के प्रति सदैव जागरूक रही है। उन्होंने साहित्यगत विचार-धारा के द्वारा राष्ट्र को पर्याप्त मात्रा में अभ्युदय की ओर उन्मुख किया है। हिन्दू-जाति की पतनोन्मुख अवस्था का अवलोकन कर उनका अन्तर विह्वल हो उठता है और वह नितान्त व्यथित हो उठते हैं। वस्तुतः उनके मतानुसार इस अवनति का मूल कारण हिन्दुओं की पारस्परिक वैमनस्य भावना है। 'शिवाजी के पत्र' में उन्होंने

अपनी इसी भावना की व्यंजना की है और हिन्दुओं को संगठित होने का अमर उपदेश प्रदान किया है। इस कविता में राष्ट्रीय तत्वों के अतिरिक्त ऐतिहासिक सूत्र भी अपने शुद्ध रूप में वर्तमान हैं। इसमें महाराज शिवाजी ने राजपूत नरेश जयसिंह को पत्र प्रेषित किया है और उसकी दास्य भावना का तिरस्कार करते हुए उसे हिन्दुओं की ओर से युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। प्रसंगवश इसके अन्तर्गत हिन्दुओं की शोचनीय दशा पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और उनके उन्नयन के उपायों का भी उल्लेख किया गया है।

चिन्तन तथा दर्शन के प्राणमय सूत्रों की अक्षुण्ण विभूति से समन्वित होने के कारण 'निराला' जी की प्रतिभा पूर्णतः मौलिकता से अनुप्राणित रही है। उनकी सजग वृत्तियाँ रूढ़ि तथा पिष्टपेषण की गतिहीन चेतना में कदापि आबद्ध नहीं होती। वस्तुतः किसी भी तथ्य के ग्रहण अथवा त्याग से पूर्व वह उसे अपने आत्म-चिन्तन की कसौटी पर कस लेते हैं और उसके उपरान्त ही उसके विषय में अपने निश्चित मत का अवधारण करते हैं। कोई वस्तु केवल प्राचीन होने के कारण उनके समीप त्याज्य नहीं हो सकती और न ही नूतन होने के कारण वह उनके लिए अनिवार्यतः गृहणीय हो सकती है। यही कारण है कि उनके काव्य में प्राचीन तथा नवीन, दोनों प्रकार की भावनाओं के यथावसर दर्शन होते हैं। जहाँ उन्होंने 'जुही की कली', 'भिक्षुक', 'बादल' आदि अर्वाचीन भाव-धारा से अनुवेष्टित कविताओं का प्रणयन किया है वहाँ पौराणिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों को भी प्रभूत मात्रा में अपने काव्य का विषय बनाया है। 'परिमल' की 'पंचवटी-प्रसंग' शीर्षक कविता इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। इसमें राम, सीता, लक्ष्मण, शूर्पनखा आदि पौराणिक पात्रों की सहायता से रामायण की एक विशिष्ट घटना का काव्यमय वर्णन किया गया है। राम तथा लक्ष्मण के वार्तालाप में कवि ने मन, कर्म, प्रलय आदि दार्शनिक विचारों की भी विवेचना की है।

भाव-पक्ष के निर्माण में रस-तत्व को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रही है। वस्तुतः किसी भी काव्य के भाव-पक्ष की सफलता उसमें व्याप्त रस-संचरण पर निर्भर रहती है। उसके अभाव में काव्य की भाव-धारा अपने में सर्वथा निर्जीव तथा गतिहीन रहती है और उसमें अध्येता को आकृष्ट करने की तनिक भी शक्ति नहीं होती। वस्तुतः रस काव्य का प्राण-तत्व है और उसका सन्निहन काव्य के अन्तर मे रूक्षता का पूर्णतः निराकरण कर अध्येता को लोकोत्तर आनन्द में निमग्न कर देता है। 'परिमल' का भाव-पक्ष रस-सूत्रों से पूर्णतः अनुप्राणित है और उसके अन्तर्गत अध्येता की मनोचेतना को स्पर्श करने की महती शक्ति सन्निहित है।

'परिमल' में शृंगार, करुण, वीर तथा शान्त, इन चार रसों का परिग्रहण किया गया है। इनमें से शृंगार को कवि ने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है और उसका अत्यन्त व्यापक आधार पर चित्रण किया है। 'परिमल' की अधिकांश कवितायें शृंगारिक भाव-धारा से युक्त हैं और उनमें प्रस्तुत रस की मधुर चेतना अपने चरम रूप में वर्तमान है। यद्यपि मानवीय शृंगार से सम्बन्धित कतिपय कवितायें भी प्रस्तुत काव्य में उपलब्ध होती हैं, तथापि कवि का मूल उद्देश्य प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से शृंगार-चेतना का उद्भावन करना रहा है और इसी कारण 'परिमल' की अधिकांश शृंगारिक कवितायें प्राकृतिक उपादानों को लेकर प्रणीत की गई हैं। संयोग तथा विप्रलम्भ, दोनों प्रकार के भाव-चित्रों की अवतारणा कर 'निराला' जी ने शृंगार रस को उसकी समग्रता में गृहीत किया है। उनके संयोग-चित्र अपने में जितने मधुर तथा प्रभावोत्पादक हैं, वियोग-चित्र भी लगभग उतने ही मार्मिक तथा हृदय-स्पर्शी बन पड़े है। इतना होने पर भी मात्रा की दृष्टि से 'परिमल' में संयोग शृंगार से युक्त कवितायें ही अपेक्षाकृत अधिक हैं और उनमें भावक की चेतना को मुग्ध करने की असीम अनुरागमयी क्षमता है। उदाहरणार्थ एक सुन्दर तथा रम्य शृंगार-चित्र देखिए:—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी- स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुर-प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन।

शृंगार के अतिरिक्त करुण, शान्त तथा वीर रस को भी 'परिमल' में गौण रूप में परिगृहीत किया गया है। करुण रस के लिए कवि ने 'भिक्षुक', 'विधवा' आदि जिन आलम्बनों का आश्रय लिया है वे प्रस्तुत रस के सर्वथा अनुकूल हैं। अपनी सजग तथा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और भावानुकूल शैली के द्वारा कवि ने उन्हें और भी करुण बना दिया है। यही कारण है कि तत्सम्बन्धी कविताओं में करुण रस की चेतना का पूर्ण संचरण हुआ है और उनका अध्ययन पाठक के अन्तस् को द्रवित करने में सहज समर्थ है। अध्यात्म-दर्शन पर आवृत कविताओं में शान्त रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और उनके अध्ययन से अध्येता की सात्विक वृत्तियों पर्याप्त पोषण उपलब्ध होता है। 'जागो फिर एक बार', 'आवाहन' आदि उद्बोधनात्मक कविताओं में वीर रस को प्रश्रय प्रदान किया गया है। इन कविताओं में उत्साह-भावना अथ से इति तक वर्तमान रही है और उसके कारण रस-संचरण को पूर्ण स्थायित्व प्राप्त हुआ है।

किसी भी रसात्मक काव्य की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें रस के साथ-साथ गीति उपकरणों का भी यथावत् समावेश हो। इस दृष्टि से 'परिमल' निश्चय ही एक रसपूर्ण काव्य है और उसमें उपर्युक्त तथ्य का उचित ध्यान रखा गया है। यद्यपि यह सत्य है कि गीति-तत्व का सम्बन्ध मूलतः काव्य के कला-पक्ष से है तथापि यह उपकरण भाव को भी एक विशिष्ट गति प्रदान करता है। अतः भाव-पक्ष की दृष्टि से भी इसका

महत्व अपने में अक्षुण्ण है। 'परिमल' के गीत अपने में अत्यन्त रम्य तथा मधुर बन पड़े हैं और उनमें अन्तस् की रागात्मक वृत्तियों को परितुष्ट करने की महनीय क्षमता वर्तमान है। कवि ने उनका प्रणयन करते समय संगीत के विशिष्ट आरोह-अवरोह और स्वर-ताल आदि के नियोजन का पूर्ण ध्यान रखा है। उनकी अन्तरात्मा में जिस माधुर्यपूर्ण भाव- लहरी का उद्भावन हुआ है वह अतिशय सहृदय-संवेद्य है। उनमें हृदय के सूक्ष्म रागात्मक तत्व अत्यन्त निसर्ग धरातल पर अवतीर्ण हुए हैं और किसी भी प्रकार की कृत्रिम बोझिलता का उनमें नितान्त अभाव है। संगीत की मनोमय चेतना, आत्म-प्रकाशन की निश्छल प्रणाली, संक्षिप्तता, अनुभूति आदि प्रगीत काव्य से सम्बन्धित समग्र तत्व उनमें अपने समवेत रूप में वर्तमान हैं। यही कारण है कि उनका अध्ययन और श्रवण अध्येता और श्रोता को अपनी रम्य मधुर संगीतिक चेतना द्वारा अभिभूत कर लेता है। प्रस्तुत काव्य-संग्रह में रहस्यवादी, प्रगतिवादी, राष्ट्रीय आदि अनेक भाव-सरणियों से सम्बन्धित गीतों का सन्निवेश है, तथापि छायावादी शृंगारिक गीतों को इसमें शीर्ष स्थान प्रदान किया गया है। इन प्रगीतों के अन्तर्गत प्राकृतिक उपकरणों को लेकर शृंगारिक भाव-धारा की अभिव्यक्ति की गई है और उनमें संगीत की स्वर-चेतना तथा अन्तर की रागात्मक भावना का सुन्दर सामंजस्य हुआ है :—

> निशा के उर की खुली कली।
> भूषण-वसन सजे गोरे तन,
> प्रीति-भीति काँपे पग उर-मन,
> बाजे नूपुर रुन-रिन रन-झन,
> लाज-विवश सिहरी।

इस प्रकार हमने देखा कि 'परिमल' का भाव-पक्ष अपने में अत्यन्त समृद्ध तथा विकसित है। विभिन्न कविताओं का आकलन-प्रस्तुत होने के कारण

इसकी भाव धारा में पर्याप्त अनेक रूपता का संचरण हुआ है, वस्तुतः इसके अन्तर्गत कवि के भाव-विकास के विविध सोपान प्रत्यक्ष हो उठे है। यही कारण है कि इसके अध्ययन तथा अनुशीलन से हमें 'निराला' जी के काव्य तथा व्यक्तित्व-सम्बन्धी समग्र विशेषताओं का परिचय उपलब्ध हो जाता है।

कवि-स्तवन

चारण कवि की भावना, लिये ओज अनमोल ।
जिसकी वाणी को कभी, सके न कायर तोल ॥१॥

चारण ! फिर से छेड़ दो, अपना सुन्दर गीत ।
कायरता मे जूझकर, आओ प्यारे मीत ॥२॥

चारण का चिर ओज फिर, भर कायर में प्राण ।
सभी ओर को गूँजता, लेकर स्वर्ण विहान ॥३॥

चारण फिर से आज तो, गाओ मारू राग ।
जिससे ये कायर बढ़ें, अलस भाव को त्याग ॥४॥

हिन्दी का पहला चरण, कितना सरल स्वच्छन्द ।
'रासो' लेकर आ रहे, कुशल आदि कवि चन्द ॥५॥

अपने गर्जन से सदा, बरसायी युग-ज्वाल ।
वीर चन्द के काव्य में, अंगारे विकराल ॥६॥

भूषण के युग काव्य में, रहता शौर्य ललाम ।
शान्त गगन में भी जहाँ, चढ़ता विद्युद्दाम ॥७॥

सफल लाल की लेखनी, दे कर 'छत्र-प्रकाश' ।
सत्वरता से तोड़ती, कायरता के पाश ॥८॥

सूदन की रसमय कथा, लेकर नया हुलास ।
उस सुजान के भाव का करती सफल विकास ॥९॥

कवि के सम्मुख रे भला, किसको रहा दुराव ।
जड़ता में भी देखता, जो चेतन के भाव ॥१०॥

कवि-जीवन में वेदना, अन्तर्हित है शान्त ।
फिर भी सम्मुख आ रही, सुभग कल्पना कान्त ॥११॥

कवि का जग की रीति पर, कितना सम अधिकार ।
प्रीति, मान, मद, रोष सब, हो जाते साकार ॥१२॥

कवि की वाणी में सतत, जन-हित का मृदु भाव ।
जिसके सम्मुख झुक रहे, जन-जन के कटु दाव ॥१३॥

कवि ! तुम जीवन-ज्योति में, ले आना लो शेष ।
जिससे मानव पा सके, संस्कृति का मधु वेष ॥१४॥

कविता के संसार में, कवि का ऐसा राज्य ।
असद् भाव की कालिमा, जहाँ निरन्तर त्याज्य ॥१५॥

—सुरेशचन्द्र गुप्त